अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान

भाग 3

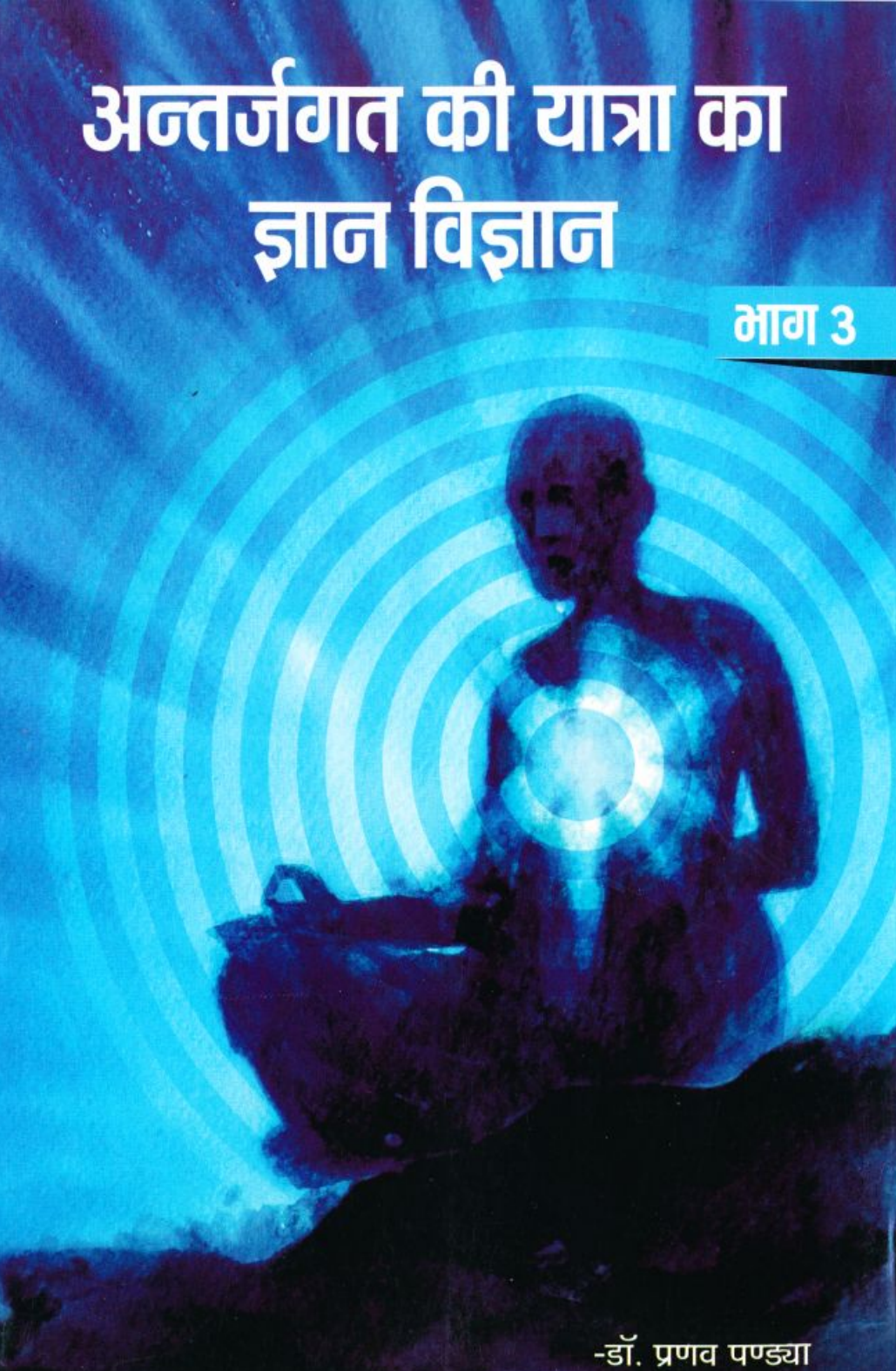

-डॉ. प्रणव पण्ड्या

अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान विज्ञान

(भाग-3)

(पातञ्जल योग दर्शन की सरल हिन्दी भावार्थ दीपिका)

विभूतिपाद

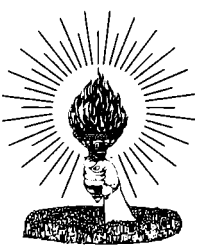

टीका एवं संपादन
डॉ० प्रणव पण्ड्या

लेखक
डॉ. प्रणव पण्ड्या

प्रकाशक
श्री वेदमाता गायत्री ट्रस्ट (TMD)
गायत्री नगर, श्रीरामपुरम्
शान्तिकुञ्ज, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रथम खण्ड का प्रकाशन
चैत्र नवरात्रि, २०१६

मूल्य: ₹ 60/-

पत्र व्यवहार का पता
गायत्रीतीर्थ-शान्तिकुञ्ज
हरिद्वार - 249411 (उत्तराखण्ड)
फोनः01334 260602
फैक्सः 01334 260866

अन्तस् की अनुभूति

अन्तर्यात्रा का ज्ञान-विज्ञान युग ऋषि परम पूज्य गुरुदेव की अन्तर्चेतना में निमग्न होकर प्राप्त हुआ। सद्गुरु में समर्पण के प्रकाश में योगऋषि पतंजलि के सूत्रों का सत्य अनुभूति के रूप में प्रकाशित हुआ। यही अन्तस् की अनुभूति अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान : भाग-१ एवं अन्तर्जगत की यात्रा का ज्ञान-विज्ञान : भाग-२ के रूप में पहले प्रकाशित की जा चुकी है। इनमें क्रमशः समाधि पाद एवं साधन पाद के सूत्रों के मर्म को उद्घाटित किया गया था। इन दो चरणों के पश्चात् इसके तीसरे भाग में विभूतिपाद के सूत्रों का सत्य बोध प्रकाशित किया जा रहा है।

पिछले दो भागों को पढ़ने वाले योग साधक जो इस रहस्यमय यात्रा में अपने साथ-साथ रहे, उन्हें इस अनूठी एवं रोमांचक यात्रा के अनुभव याद होंगे। उन्हें याद होंगे इस अन्तर्यात्रा के आरोह-अवरोह, इसकी अंधेरी-उजाली, कंकरीली-पथरीली, मखमली-रूपहली, सुनहरी राहें। जो कष्टप्रद भी रही होंगी और सुखप्रद भी। जिन्होंने अन्तर्यात्रा के पथिकों को कभी अवसाद से अवसन्न किया होगा, तो कभी उनमें प्रसन्नता का प्रकाश उड़ेला होगा। योग का साधना पथ है ही ऐसा। इसके रहस्य व रोमांच का कभी अन्त नहीं होता। यही वजह है कि इस पर चलने वालों की रुचि कभी अरुचि में परिवर्तित नहीं होती।

जो अपनी इस अनूठी यात्रा में सहयात्री रहे हैं, उन्होंने अपने साथ-साथ चलते हुए ये दो चरण पूरे किए हैं। इनमें से पहले चरण में उन्होंने जाना योग के स्वरूप को, उसके समाधि लक्ष्य को। इस लक्ष्य को कैसे पाया जाय, इसके साधना विधियों के अनेक आयाम खुले दूसरे चरण में। इसीलिए इन दोनों चरणों

को क्रमिक रूप से समाधिपाद और साधनपाद कहा गया। अब बारी तीसरे चरण की है, जो साधना का परिणाम है। इसका नाम है विभूतिपाद। साधना निष्ठापूर्वक की जाती रहे, इसमें निरन्तरता और श्रद्धा बनी रहे तो विभूतियाँ स्वयं ही प्रकट होने लगती है। ये विभूतियाँ दरअसल योग साधक का योग ऐश्वर्य है। उसका नैसर्गिक स्वत्व है, जो उसे चित्त शुद्धि के साथ स्वत: ही मिल जाता है।

जो चित्त शुद्धि के लिए साधना करते हैं, उन्हें सारी विभूतियाँ अपने आप ही मिल जाती है, लेकिन जो विभूतियों के लिए प्रयास करते हैं, उन्हें प्राय: निराश ही होना पड़ता है। क्योंकि योग उनके लिए है जो सत्यान्वेषी हैं, स्व अन्वेषी हैं। यह योग की अन्तर्यात्रा उनकी है, जो चित्त में संस्कारों को, परतों को उघाड़ते-बेधते आगे बढ़ते हैं। यह उनके लिए है जो अपनी कर्मराशि को कठिन तप से भस्मीभूत करने के लिए तत्पर हैं। लेकिन जो केवल कौतुकी हैं, जिनमें सिर्फ चमत्कारों के लिए आकर्षण है, उन्हें इस पथ पर चलने से इतनी गहरी हताशा मिलती है कि उनके पांव बरबस ही वापस मुड़ जाते हैं।

अन्तर्यात्रा के इस तीसरे चरण में जिन विभूतियों की चर्चा है वे न तो कहीं से आती है और न ही किसी से मिलती है। इन का सत्य, इनका यथार्थ यही है कि ये प्राप्ति नहीं है, बल्कि प्रकाश है। आत्मा जब शुद्ध चित्त के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करती है तो विभूतियों का नैसर्गिक स्वरूप प्रकट होता है। इस सच को यदि सामान्य जीवन के उदाहरण से समझना हो तो, कहना होगा कि अंधे की दुनियां अंधियारी होती है। उसे न तो कुछ दिखता है और नही वह किसी वस्तु को उसके सही रंग, रूप व आकार को समझ पाता है। बस टटोलकर जिस किसी तरह से थोड़ा-बहुत अनुमान लगा पाता है। और यह अनुमान भी बहुत अधिक विश्वसनीय या प्रामाणिक नहीं होता।

परन्तु देखने वालों की बात अलग है। जिनकी आँखें हैं उनका संसार, उनकी सोच, उनके अनुभव सभी अलग होते हैं। उनके अनुभवों का संसार, विधाता की रंग-बिरंगी कारीगरी और मनमोहक, सम्मोहन इन्द्रधनुषी छटा से भरा होता है। लेकिन इस अनुभव के लिए अनिवार्य रूप से चाहिए आँखें, स्वस्थ, स्वच्छ मन एवं सूर्य का प्रकाश। ये तीन का संयोग जब जुटता है, जब बनता है तब ही देख पाने का अनुभव हो पाता है। इसी तरह विभूतियों के लिए

चाहिए धारणा, ध्यान और समाधि की त्रिविध योग्यता। ये तीन जब एकत्र-एक जुट होते हैं, केवल तब ही विभूतियों की इन्द्रधनुषी छटा प्रकट-अभिव्यक्त होती है।

योगयात्रा के इस तीसरे चरण से पहले के दो चरणों में जिन पाँच योग अङ्गों की चर्चा की गयी थी, उनका स्वरूप बहिरंग रहा है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। इनका सम्बन्ध व्यक्तित्व के बाहरी कलेवर से है। इनके जितने भी प्रयोग है वे सभी व्यक्तित्व की बाहरी परतों तक सीमित रहते हैं। लेकिन धारणा, ध्यान और समाधि योग साधना के ऐसे सोपान हैं, जिसमें साधना चेतना के अन्तगर्भ में प्रवेश करती है। इसलिए इन्हें योग का अन्तरंग साधन कहना उचित एवं औचित्यपूर्ण होगा। इस अन्तरंग साधन को निष्ठापूर्वक करेंगे, जो इसके लिए सुयोग्य-सत्पात्र बनेंगे, उन्हें ही विभूतियों का योग ऐश्वर्य मिल सकेगा।

ऐसे योग साधक और उनकी यह साधना बड़ी विरल और अद्‌भुत है। प्राय: साधना के नाम अनेक तरह के कर्मकाण्डों का अम्बार खड़ा किया जाता है। बहुत सारे कर्मों एवं साधनों से उपजी उबाऊ, उलझाऊ और जोखिम भरी साधना। इसमें अनेक विधि-विधान है। इनके न जाने कितने अन्तर-प्रत्यन्तर हैं। हमें इन सबकी उपयोगिता एवं आवश्यकता पर सन्देह नहीं है। पर यह उनके लिए है जो अभी तक बंटे-बिखरे हैं, जो अभी तक स्वाभाविक रूप से स्वयं में समाविष्ट और समाहित नहीं है। ऐसे के लिए तो योग है ही नहीं। इस विराट कर्मकाण्ड के बाद एक दूसरा कर्मकाण्ड है- जिसे कर्मकाण्ड न कहकर योग कहा जाता है। इसे हठयोगी करते हैं। अनेक क्रियाओं का कौशल इसमें है, पर यह भी यथार्थ में एक तरह कर्मकाण्ड ही है।

जो इन सभी कक्षाओं को पार कर चुके हैं। जो स्वस्थ शरीर एवं स्वच्छ मन के लोग हैं, उनके लिए पतंजलि प्रणीत योग है। उन्हें भी पहले के चरणों में बताए गए बहिरंग साधनों को करना पड़ता है। इन्हें करने के लिए किसी तरह के बाहरी सरंजाम की जरूरत नहीं है। बस ऐसी क्रियाएँ है जो शरीर और मन के सहयोग से की जाती है। इनके प्रारम्भिक दौर में शरीर का सहयोग अधिक और मन का कम होता है। पर उत्तरोत्तर मन का सहयोग अधिक और शरीर का सहयोग कम होता जाता है। जैसे कि आसन में शरीर का सहयोग अधिक और

मन का कम है। लेकिन प्रत्याहार में मन का सहयोग अधिक किन्तु शरीर का कम है।

परन्तु इस तीसरे चरण में शरीर के सहयोग की तनिक सी भी जरूरत नहीं है। इसमें किए जाने वाले सारे प्रयास, इसकी सभी क्रियाएँ पूर्णतया मानसिक है। इसके पहले जो कुछ भी कहा गया, किया गया वह इसी विभूतिपाद की तैयारी के लिए था। अब तक जिन साधनों की चर्चा हुई वे इस अन्तर्यात्रा में सहयोगी होते हुए भी बाहरी थे। इन्हें महर्षि पतंजलि ने बहिरंग परिधि में रहने वाला बताया। परन्तु अब जिन तीन की चर्चा है- धारणा-ध्यान-समाधि ये तीनों को महर्षि अंतरंग-आंतरिक कहकर सम्बोधित करते हैं।

पहले उन्होंने सिखाया योगियों की भाँति जीना। यम-निमय इसके माध्यम बने। फिर उन्होंने शरीर को दृढ़ किया- आसन, प्राणायाम के माध्यम से। इसके साथ ही उन्होंने मन को स्थिर किया प्राणायाम एवं प्रत्याहार के माध्यम से। बाद में चेतना को पूर्णतया अन्तर्जगत् की ओर मोड़ दिया। प्रत्याहार बना इस का द्वार। इस द्वार से ही प्रवेश करना है चैतन्यता के गर्भ में। साधना के आन्तरिक पहलुओं में। जो इस दुर्लभ द्वार को लांघेगा उसे ही योग की विभूतियाँ मिलेगी। इसके लिए महर्षि पतंजलि का एक-एक सूत्र अन्तर्यात्रा के पथिक के लिए मार्गदर्शक है। विभूतिपाद का प्रत्येक सूत्र स्वयं ही किसी अलौकिक विभूति से कम नहीं है। अब आगे के पृष्ठों में एक-एक करके ये सभी विभूतियाँ अन्तर्यात्रा के पथिकों को सौंपे जाने की तैयारी है।

- डॉ. प्रणव पण्ड्या

चैत्र नवरात्रि!
२०१६

अनुक्रमणिका

ध्येय में मन की एकाग्रता है- धारणा 09
स्वयं का स्वयं के प्रति होश है- ध्यान 13
चित्त का ध्येय में विलय है- समाधि 17
धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्व है संयम 21
संयम सिद्धि से होती है बुद्धि प्रकाशित.....25
क्रमिक होती है संयम की साधना.....29
अनूठी है संयम की विभूति.....33
निष्कामता से खुलता है समाधि का द्वार 37
चित्त की चंचलता का रूपान्तरण है समाधि.....41
दिव्यता की एक झलक से बदलती है दुनिया 45
अशान्ति का समाधान है एकाग्रता.....49
भूत और भविष्य से मुक्त आज का आनन्द 53
हर पल परिवर्तन का नाम है - प्रकृति 57
निराकार से एकाकार होने का विज्ञान.....61
योग विधियों से घटते हैं चित्त की भूमि में चमत्कार 65
कैसे होता है भूत और भविष्य का ज्ञान.....69
भावों पर संयम से होता है सभी भाषाओं का ज्ञान.....73
संस्कारों के ज्ञान से होता है जन्म-जन्मान्तरों का बोध 77
संयम से खुलते हैं दूसरों के मन के द्वार 81
समाधि से संभव है दूसरे के चित्त का सम्यक ज्ञान 85
अदृश्य होने का ज्ञान और विज्ञान 89
शब्दों के तिरोहित हो जाने का विज्ञान.....93
कर्मों के संयम से मिलता है मृत्यु के क्षण का ज्ञान.....97
मैत्री गुण के सधने से सधते हैं सारे गुण.....101
संयम के सदुपयोग से होता है असंभव भी संभव.....105
योगी की शक्ति है प्रज्ञा का प्रकाश.....109
सूर्य पर संयम करने से होता है समस्त लोकों का ज्ञान 113

चन्द्रमा पर संयम से मिलती है अमरता 117
ध्रुव तारे पर संयम से होता है नक्षत्रों का ज्ञान.....121
नाभि चक्र पर संयम से होता है जीवन का सम्यक् ज्ञान.....125
कण्ठ पर संयम से होता है क्षुधा पर नियंत्रण 129
कूर्म नाड़ी पर संयम से मिलता है परम एकत्व 133
ब्रह्मरंध्र पर संयम से होता है ब्रह्मज्ञानियों का ज्ञान 137
बुद्धि व बोध का समन्वय है प्रतिभा.....141
हृदय पर संयम से होता है चित्त का ज्ञान.....145
स्वार्थ पर संयम से आत्मपुरुष का ज्ञान 149
जीवन के शीर्षासन से प्राप्त दुर्लभ सिद्धियाँ.....153
योगी के लक्ष्य में भटकाव हैं सिद्धियाँ 157
योगी के लिए संभव है परकाया प्रवेश 161
उदान प्राण के संयम से होती है ऊर्ध्व गति.....165
जठराग्नि को प्रदीप्त करने की साधना 169
पराभौतिक श्रवणशक्ति की प्राप्ति 173
आकाशगमन का योगविज्ञान.....177
देहबोध से आत्मबोध का मार्ग-विदेह धारणा.....181
भूतजय की सिद्धि.....185
अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का योग पथ.....189
भूतजय होने पर मिलती है वज्र समान काया.....193
समस्त इंद्रियों पर विजय 197
प्रकृति पर अधिकार करता है योगी 201
भावों व पदार्थों पर अधिकार की योगसाधना 205
वैराग्य का परम शिखर है कैवल्य.....209
देव निमन्त्रण से भ्रमित नहीं होता है योग साधक 213
क्षण-क्रम सधे तो होता है विवेक ज्ञान.....217
भेदों की सूक्ष्मताओं का बोध कराता है विवेक.....221
सबका, सब प्रकार से सम्यक् ज्ञान है-विवेकजनित ज्ञान 225
चित्त व पुरुष की सम्यक् शुद्धि का परिणाम है कैवल्य 229
उपसंहार.....232

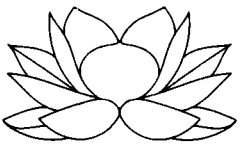

ध्येय में मन की एकाग्रता है- धारणा

अन्तर्यात्रा का विज्ञान स्वयं का स्वयं से परिचय है, स्वयं की स्वयं में अनुभूति है। वह स्वयं के प्रश्नों का स्वयं में उत्तर खोजने का प्रयास है। अन्तर्यात्रा का विज्ञान व इसके वैज्ञानिक अन्य तरह के विज्ञान व इनके वैज्ञानिकों से थोड़ा अलग हैं, और प्राय: अनूठे भी। विज्ञान की अन्य शाखाएँ प्राय: ऐसे सवालों का हल खोजने में अपना समय व्यतीत करती है, जिनका इन्सान के व्यक्तित्व व उसके जीवन के केन्द्र से कोई विशेष लेना-देना नहीं है। अन्तर्यात्रा विज्ञान एवं इसके वैज्ञानिकों ने अपने अन्वेषण व अनुसन्धान में सबसे पहले इस सूत्र की खोज की, कि पहले स्वयं को समझने का प्रयास करना होगा। क्योंकि स्वयं को समझे बगैर दूसरे को समझ पाना मुश्किल है। योग विज्ञान का समूचा आधार यही है। इसी ओर इसकी गति है।

इस गतिशीलता में अब तक एक के बाद एक नए पड़ाव आते रहे। इसी के साथ अन्तर्यात्रा अपने पथ के नए-नए आयाम पर पहुँचती रही। इसी क्रम में अब पुन: सर्वथा नवीन आयाम की ओर गमन है। इस आयाम के लिए सभी अनुशासन आन्तरिक है। सभी प्रयोग आन्तरिक है। एक तरह से यह अन्त:योग की शुरूआत है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसे देखा और दिखाया जाय। इस उपक्रम में न तो कोई स्थूल प्रयास है और न ही कोई स्थूल प्रयोग। बस अन्त:करण का नियमन एवं नियन्त्रण है। मन को संवारने एवं प्रकाशित करने के

लिए प्रयोग है। चंचल मन को थिर करने के लिए प्रयोग एवं विधियाँ हैं। यही साधन पाद का विभूति पाद की ओर गमन है।

जिसके प्रथम सूत्र में महर्षि पतंजलि स्वंय के अनुभव को कुछ इस तरह व्यक्त करते हैं-

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ ३/१ ॥

शब्दार्थ= चित्तस्य देशबन्धः= (बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) किसी एक देश में चित्त को ठहराना; धारणा= धारणा है।

भावार्थ= जिस पर ध्यान किया जाता हो, उसी में मन को एकाग्र और सीमित कर देना धारणा है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र जितना अनूठा है, उतना ही महत्त्वपूर्ण भी। इसमें मन को संवारने के सभी उपाय है। सामान्यतया मन में विचारों की भीड़ हलचल, उथल-पुथल मचाए रखती है। अनेकों प्रश्न कंटक मन में चुभते रहते हैं। ये प्रश्न भी ऐसे होते हैं, जिनका न तो जीवन से लेना देना है, न ही तन और मन से। बस बेतरतीब, बेवजह से सवाल मन को हैरान, परेशान करते रहते हैं। इस हैरान-परेशान मन को लेकर व्यक्ति खुद तो परेशान रहता है, साथ ही औरों को भी परेशान करता रहता है। उसकी हालत कुछ ऐसी होती है जैसे कि उसे हर तरफ से बस खींचा जा रहा हो। इसके बावजूद वह हर तरह से स्वयं को अधूरा और अपूर्ण अनुभव करता रहता है।

उसे लगता कुछ ऐसा है जैसे कि वह जाना तो दायीं तरफ चाहता है, पर उसे खिंचाव होता है बायीं तरफ। जाना वह दक्षिण की ओर चाहता है, पर उसे खिंचाव होता है उत्तर की ओर। इस सब में उसकी हालत कुछ ऐसी होती है कि वह कहीं भी नहीं पहुँच पाता। बस एक अस्त-व्यस्त ऊर्जा, एक भंवर एक तीव्र हलचल, जिसमें सिवाय दुःख पीड़ा और सन्ताप के और कुछ भी अनुभव नहीं होता। ऐसा संतप्त मन लिए वह सब ओर भटकता रहता है। अपनी इस भटकन में वह स्वयं भटकते हुए औरों को भी भटकाता व भ्रमित करता है।

धारणा इस भटकन, भ्रम एवं सभी तरह के मानसिक छलावों से उबरना है। अपने मन को संवारना है। उसे सही दिशा में नियंत्रित एवं नियोजित करना है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे जो सामान्य जीवन के कार्यों में अपने मन को नियंत्रित नियोजित एवं एकाग्र कर लेता है, वह धीरे-धीरे आध्यात्मिक

विषयों की धारणा करना भी सीख जाता है। उनका स्वयं का जीवन भी कुछ इसी तरह का था। उनके द्वारा किए जाने वाला प्रत्येक छोटा या बड़ा काम आध्यात्मिक साधना एवं समाधि से किसी भी तरह से कम न था।

एक बार उनके पास जाना हुआ। उनके कक्ष की ओर जाने वाली सीढ़ियों को चढ़ते हुए जब उनके कक्ष में पहुँचा, तब देखा कि परम पूज्य गुरुदेव सोफे पर बैठ अखबार पढ़ रहे थे। उनके आस-पास का वातावरण बहुत शान्त और अलौकिक था। चारों ओर एक नीरवता, निस्पन्दता छायी हुई थी। वह बस अखबार पढ़ रहे थे। उनके कक्ष में पहुँचने के बाद भी मन में यह साहस न हुआ कि उनकी इस अलौकिक एकाग्रता में व्यवधान या व्याघात पहुँचाया जाय। इसलिए उन्हीं के कक्ष में बिछे हुए एक टाट के टुकड़े पर बैठ गया। कमरे में लगी हुई घड़ी के कांटे आगे बढ़ते रहे। पर उनकी लय यथावत बनी रही। कुछ देर के बाद उन्होंने धीरे से अखबार एक ओर रखा। सामने की ओर देखा फिर हल्के से मुस्करा दिए।

कुछ पलों तक यूं ही मौन बना रहा। फिर उन्होंने पूछा- बेटा! कितनी देर पहले आना हुआ? उनके इस प्रश्न का जवाब दिया- गुरुदेव! आना तो काफी देर पहले हुआ था। पर मेरी हिम्मत नहीं पड़ी कि आपका ध्यान भंग करूँ। इस पर वह बोले- बेटा! जो प्रत्येक काम को ध्यान बना लेता है, फिर उसे सचमुच ध्यान के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। इसके बाद उन्होंने स्वतः ही कहा- ध्यान के लिए जरूरी है धारणा। किसी सात्त्विक, पवित्र एवं प्रकाशपूर्ण विषय को मन में धारण करने का प्रयास व अभ्यास।

इसके लिए जरूरी है एकाग्रता। विषय-वस्तुओं की भीड़ को गिरा देना और बस एक ही विषय को चुन लेना। दरअसल मन में हमेशा विचारों, वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाक्रमों की बेतरतीब भीड़ छायी रहती है। वह भीड़ न तो सोते हुए पीछा छोड़ती है और न जागते हुए। इस भीड़ से हटे तो मन सहज ही शान्त हो सकता है। इसके लिए एक ऐसे विषय की जरूरत है, जहाँ मन सहज ही सिमट जाए। यह कुछ इस तरह से सिमटे जैसे कि मां की गोद में शिशु सिमट जाता है।

माता गायत्री की भावभरी छवि हो या फिर उदय होते हुए भगवान् सूर्य। इनकी धारणा की जा सकती है। मन की भीड़ हटाकर इन्हें अपने मन में धारण

किया जा सकता है। जब एक बार तुमने एक विषय को चुन लिया और एक विषय को धारण करके अपनी चेतना में रहने की योग्यता प्राप्त हो गयी तो समझो कि धारणा का अभ्यास होने लगा। इस अभ्यास की शुरूआत जीवन के छोटे-छोटे कामों से भी की जा सकती है। जब इन बाहरी कामों में चित्त स्थिर हो बंधने लगता है, तब आन्तरिक पवित्र एवं प्रकाशपूर्ण धारणाएँ भी मन के लिए सहज एवं सुगम हो जाती है। फिर मन का प्रवाह उसी ओर प्रवाहित होने एवं उसी में समाहित होने लगता है।

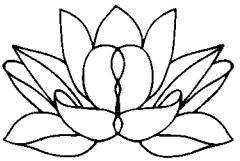

स्वयं का स्वयं के प्रति होश है- ध्यान

अन्तर्यात्रा का विज्ञान स्वयं का समग्र अध्ययन है। हालांकि यह कार्य आसान नहीं है। स्वयं के द्वारा औरों को तो जाना जाता है, लेकिन स्वयं के द्वारा स्वयं को जानना-समझना बड़ी अबूझ पहेली सा लगता है। कवियों ने कहा है- 'जिन आंखिन सब देखि अहि सो आँखि न देखी जाहि' अर्थात् जिन आँखों से सब कुछ देखा जाता है, उस आँख को अपनी उसी आँख से नहीं देखा जा सकता। कुछ ऐसी ही अनोखी बात स्वयं के द्वारा स्वयं के अध्ययन के बारे में है। यह अनोखी पहेली जिस ढंग से जिस तरह से हल होती है, उसे अध्यात्म कहते हैं। और इस अध्यात्म की सही प्रक्रिया, सही विधि, सही विज्ञान ध्यान है। जिसने ध्यान का मर्म जान लिया, समझो उसने जीवन का सम्पूर्ण मर्म जान लिया। उसने निःसन्देह अध्यात्म का समूचा विज्ञान ही जान लिया।

परन्तु ध्यान के पहले आवश्यक है मन का स्थिर होना, उसका एकाग्र होना। यह यूं ही सम्भव नहीं है, इसके लिए आवश्यक है वह विषय वस्तु जिस पर एकाग्रता सधे, जिस पर अपने मन को स्थिर किया जाय। इसे ही धारणा कहते हैं। किसी एक देश में चित्त को ठहराना धारणा है। दूसरे शब्दों में इसे कुछ इस तरह भी कहा जा सकता है कि जिस पर ध्यान किया जाता हो, उसमें ही मन को एकाग्र व सीमित कर देना धारणा है। इस धारणा का परिपाक, इसकी गहनता व व्यापकता ही ध्यान के रूप में प्रकट होती है।

इसे ही महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में कुछ इस तरह से व्यक्त किया है-

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्॥ ३/२॥

शब्दार्थ= तत्र (जहाँ चित्त को लगाया जाय) उसी में; प्रत्ययैकतानता= वृत्ति का एक तार चलना, ध्यानम्= ध्यान है।

भावार्थ= ध्यान के विषय से जुड़ी मन की अविच्छिन्नता, उसकी ओर बहता मन का सतत प्रवाह ध्यान है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अपने में अनेकों गहरे रहस्य संजाये हुए है। इसे यदि सही ढंग से समझ लिया जाय तो चेतना के अन्तर्कपाट स्वतः ही खुल जाते हैं और मन को अपने आप ही विराट की झलक मिलने लगती है। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का पहला शब्द तत्र है ध्यान का प्रवेश द्वार। तत्र में समायी है सभी धारणाएँ जो बनती है ध्यान का आधार। धारणा जितनी पवित्र, प्रेरक व प्रकाशपूर्ण होगी, ध्यान करना उतना ही सहज हो सकेगा। धारणा की आवश्यकता केवल मन को एकाग्र करने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह इस बात के लिए भी है कि इसके माध्यम से, भावों में सात्त्विकता का उद्दीपन एवं उद्रेक हो। यही वजह है कि किसी भी राजसिक व तामसिक विषय बिन्दु को धारणा के लिए नहीं चुना जा सकता।

धारणा किसकी हो, किस तरह की जाय, इसके लिए योगशास्त्र, अध्यात्म विद्या में कई उदाहरण दिए गए हैं। तंत्र ग्रन्थों में भी इस सन्दर्भ में काफी व्यापक ढंग से विचार किया गया है। भगवान् सदाशिव एवं माता पार्वती की उपदेश वार्ता के रूप में लिखा गया तंत्र ग्रन्थ 'विज्ञान भैरव तंत्र' धारणा के विभिन्न आयाम एवं उसके विज्ञान को ही वर्णित व विवेचित करता है। इसमें धारणा के सुफल का भी बड़ी स्पष्ट भाषा में उल्लेख किया गया है। इसके पढ़ने पर पता चलता है कि ध्यान का परिणाम बहुत कुछ धारणा के चयन एवं ग्रहण-धारण पर निर्भर करता है।

धारणा के चयन, ग्रहण व इसके धारण का मतलब है कि अब योग साधक ने एक विषय को चुन लिया और इस एक विषय को धारण करके उसने अपनी चेतना में रहने की योग्यता प्राप्त कर ली। ऐसा हो सकने पर अब बारी ध्यान की आती है। जिसके लिए महर्षि एक अनूठा शब्द प्रयोग करते हैं 'प्रत्ययैकतानता'

ध्यान के विषय की ओर चेतना का सतत व अविराम प्रवाह। जैसे कि टार्च से अबाधित रूप से निरन्तर प्रकाश आ रहा हो। ठीक तैल धारावत्। यह बात रोजमर्रा के जीवन में सामने आती है कि जब एक बर्तन से दूसरे बर्तन में पानी डाला जाता है तो उसका प्रवाह सतत नहीं हो पाता। कहीं न कहीं इसका क्रम टूटता है। परन्तु जब एक बर्तन से दूसरे बर्तन में तेल डाला जाता है तो उसका प्रवाह सतत व अविछिन्न बना रहता है, टूटता नहीं है।

यही ध्यान है। जिसमें चेतना बिना किसी अवरोध के, बिना किसी बाधा, व्यतिरेक या विश्राम के ध्यान के विषय पर उतर रही होती है। यदि कहीं बाधा आ जाय, कहीं व्यतिरेक या व्याघात हो जाय तो समझो कि ध्यान भटक गया, ध्यान भंग हो गया। इस सम्बन्ध में बात इतनी है कि अगर पहला चरण उपलब्ध हो जाय, तो फिर दूसरा चरण कुछ ज्यादा कठिन नहीं है। हाँ अगर पहला चरण ही न पूरा हो सके तो दूसरा लगभग असम्भव ही समझो। क्योंकि एक बार जब चित्त से, चिन्तन से और चेतना से विषयों की भीड़ हट गयी, गिर गयी अथवा छट गयी और बस एक विषय बचा तो समझो चेतना के सभी छिद्र बन्द हो गये। चेतना की सारी भ्रान्तियाँ, भटकावे, छलावे समाप्त हो गए। अब तो बस एक ही विषय पर पूरी की पूरी चेतना केन्द्रित हो गयी।

ऐसा हो पाना बड़ा आश्चर्यजनक है। क्योंकि जब चेतना एक ही विषय पर केन्द्रित हो जाती है, तो वह विषय अपनी सभी गुणवत्ताओं को प्रकट कर देता है। उस छोटी सी धारणा में जिस पर ध्यान किया जा रहा हो, परमात्मा के सारे राज प्रकट हो जाते हैं। यह बड़ा गहन आध्यात्मिक सत्य है कि छोटा सा अंश अपने में पूरी सृष्टि समाए हुए है। जैसे कि प्रत्येक बूंद अपने में सागर को संजोये होती है। अगर सागर की एक बूंद को समझ लिया जाय तो सागर को समझना बड़ा ही आसान हो जाता है। अब अलग से एक-एक बूंद को जानने-परखने की जरूरत नहीं है। बस एक बूंद को जान लिय यही काफी है। इस पर ध्यान जम जाय तो इसी में सागर के सभी गुण प्रकट हो जाएँगे। फिर कुछ यूं भी कहा जा सकता है कि यही अकेली बूंद सागर बन जाएगी।

ध्यान में कुछ ऐसा ही आश्चर्य घटित होता है। इससे चेतना की सभी गुणवत्ताएँ एक साथ प्रकट हो जाती है। इस प्रक्रिया में व्यक्ति की चेतना स्वाभाविक ही समष्टि की चेतना बन जाती है। पहले चरण में प्रकट होता है

विषय तो दूसरे चरण में प्रकट होती है उसकी आत्मा। किसी विषय की ओर प्रवाहित होने वाला सतत् प्रवाह में प्रवाहित होते जाना, नदी की भाँति बिना किसी विचलन के बहते जाना एक अपूर्व अनुभूति देता है। इन ध्यान के क्षणों में पहली बार अपने अन्तर्तम के प्रति जागरूकता बन पड़ती है। स्वयं अपने प्रति स्वयं का होश जगता है।

इस अनूठे जागरण में अहंकार कब विसर्जित-विलीन हो जाता है कुछ पता ही नहीं चलता। चेतना के इस अविराम, अविच्छिन्न प्रवाह में अहंकार का अवरोध पूर्णतया समाप्त हो जाता है। तब योग साधक आत्मरूप हो जाता है। इसमें मिटने लगते हैं, सभी भेद, सभी दरारें, सभी दीवारें। कोई भी विभाजनकारी रेखा नहीं बची रह जाती। ध्यान देता है एक सर्वथा अनूठी अनुभूति, आत्मा हो जाने की। इस अनुभूति में जो कुछ आत्मविरोधी है, स्वत: ही मिट जाता है। बस सारा वस्तुगत, आत्मगत हो जाता है।

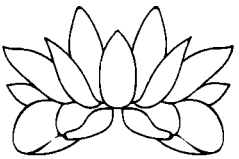

चित्त का ध्येय में विलय है- समाधि

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अनूठे और अनोखे हैं। जब कोई योग साधक इन प्रयोगों में से किसी एक प्रयोग को करता है, तो वह प्रयोग अपनी प्रगाढ़ता और परिपक्वता में योग साधक के साधना जीवन में अपने सर्वथा नवीन आयाम को प्रकट करता है। इसी के साथ योग साधक की भाव चेतना भी एक नए आयाम में प्रवेश कर जाती है। यह सच कुछ उसी तरह से है जैसे कि कोई विद्यार्थी अपनी कक्षा के पाठ्यक्रम की पूरे मन से पढ़ाई करे। यह पढ़ाई अपनी तन्मयता, एकाग्रता एवं परिपक्वता में ज्ञान की नयी-नयी बातों को विद्यार्थी के मन में पैदा करने के साथ एक विशेष क्षण में उसकी कक्षा भी परिवर्तित कर देती है। तब वह विद्यार्थी अपने नवीन पाठ्यक्रम को पढ़ने लगता है। आगे भी यह सिलसिला इसी तरह से चलता रहता है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों के क्रम में भी कुछ ऐसी ही बात है। जिन्हें योग विद्या के मर्मज्ञ-विशारद धारणा-ध्यान एवं समाधि कहते हैं, उन्हें सामान्य जन एकाग्रता, तल्लीनता एवं एकात्मता के रूप में भी समझ सकते हैं। जिसे धारणा कहते हैं, उसे धारण करने के लिए जरूरी है चित्त में गहरी समझ और एकाग्रता का होना। इसके आगे की कक्षा ध्यान है। दरअसल यह धारणा का ही परिपाक है। इस अवस्था में चित्त धारणा के साथ गहरा तादात्म्य, वह तल्लीनता स्थापित करने में सक्षम होता है। क्योंकि ध्यान के

विषय से जुड़ी मन की अविच्छिन्नता, उसी ओर बहता मन का सतत प्रवाह ध्यान है।

जब ध्यान का परिपाक हो जाता है, तब इसी से योग साधना का अगला प्रयोग प्रकट होता है। इसे ही अन्तर्यात्रा विज्ञान ने समाधि कहा है। यही समाधि महर्षि पतंजलि के अगले सूत्र का विषय है। इस सूत्र में वह कहते हैं-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३/३ ॥

शब्दार्थ= अर्थमात्रनिर्भासम्= जब (ध्यान में) केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और; स्वरूपशून्यमिव= चित्त का निजस्वरूप शून्य सा हो जाता है, तब; तदेव= वही (ध्यान ही); समाधिः= समाधि हो जाता है।

भावार्थ= जब मन विषय के साथ एक रूप हो जाता है तो वह समाधि है।

योग ऋषि पतंजलि का यह सूत्र अपने में अनूठे रहस्य लिए है। लेकिन इस सूत्र में छिपे रहस्य को तभी जाना-समझा जा सकता है, जबकि इसके पहले के दोनों सूत्र भली तरह से समझ लिए जाएँ। क्योंकि ये तीनों सूत्र परस्पर जुड़े हैं। इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये तीनों सूत्र दरअसल एक ही पाठ्यक्रम की तीन कक्षाएँ हैं। जिनमें एक के बाद एक के क्रम में ही प्रवेश किया जा सकता है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव इस सच को अपने साँचे में ढालकर एक अलग ढंग से कहा, बताया और समझाया करते थे।

उनका कहना था कि धारणा— एकाग्रता है। जब कोई व्यक्ति एकाग्र होता है तो उसके सामने ऐसी अनेकों बातें उद्घाटित हो जाती हैं, जिनका आम तौर पर पता भी नहीं चल पाता। क्योंकि आम तौर पर तो आदमी आधे-अधूरेपन में ही जीता है। लेकिन जब वह एकाग्र होता है तो जैसे वह अपने पूरेपन में जीवन जीने की शुरूआत कर रहा है। तब उसके चिन्तन, चेतना और चित्त में अनेकों नए रहस्य प्रकट हो जाते हैं। पूरा का पूरा विज्ञान सिवाय एकाग्रता या कनसनट्रेशन के सिवा और कुछ नहीं है। इस बात को और भी सुस्पष्ट करने के लिए परम पूज्य गुरुदेव सुविख्यात रसायन विज्ञानी डॉ. प्रफुल्लचन्द्र राय का एक संस्मरण सुनाते थे। वह बताते थे कि एक बार प्रो. राय अपनी प्रयोगशाला में काम कर रहे थे। तभी उनसे मिलने एक व्यक्ति आया। उसने देखा कि प्रो. राय बड़ी गहनता में मौन व शान्त हैं। उसका साहस न हो पाया कि वह इसमें कोई व्यवधान उत्पन्न करें। जब प्रो. राय बाहर आये तो उन्होंने पूछा- तुम कब से यहाँ

हो ? तब उसने कहा- मैं हूँ तो यहाँ बड़ी देर से। पर मुझमें साहस न हो सका कि मैं आपकी एकाग्रता भंग कर सकूँ।

इस पर प्रो. राय ने कहा- तुम ठीक कह रहे हो। मेरा कार्य ही मेरी प्रार्थना है। जब मैं अशान्त, चिन्तित व परेशान होता हूँ, तब मैं अपनी प्रयोगशाला में आ जाता हूँ। फिर अनायास ही देखते-देखते सब कुछ बदल जाता है। एक गहरी शान्ति मुझे घेर लेती है। गुरुदेव कहते थे कि दरअसल यह सम्यक् धारणा का सुफल है। उनका कहना था कि एक वैज्ञानिक का सारा काम एकाग्रता में सम्पन्न होता है। इस लिहाज से विज्ञान, योग का पहला चरण है। क्योंकि एकाग्रता योग का प्रथम आन्तरिक चरण है। अगर कोई वैज्ञानिक एकाग्रता में न अटका रहे, तब वह योगी बन सकता है।

इसके बाद का चरण है— ध्यान। यह एकाग्रता से कहीं आगे है। यह विज्ञान व वैज्ञानिकता से भी आगे है। यह पथ कलाकार का है, क्योंकि वैज्ञानिक का सम्बन्ध बाहरी दुनिया से होता है, अपने से नहीं। जबकि कलाकार का सम्बन्ध अपने से होता है। इस प्रसंग में पूज्य गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर का उदाहरण देते थे। उनका कहना था कि विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर जब शान्ति निकेतन के विद्यार्थियों को पेंटिंग के बारे में समझाते तो वह कहते कि यदि तुम बाँस की पेंटिंग बनाना चाहते हो, तो बाँस ही बन जाओ। अपने को बाँस की अनुभूति के साथ तादात्म्य करो। तुम अनुभव करो कि बांस वर्षा की बौछारों के साथ कैसे झूमता-नाचता है। सूर्य की ऊष्मा के साथ गर्व के साथ खड़ा रहता है। परम पूज्य गुरुदेव कहते थे, जब ऐसी ही अनुभूति आन्तरिक धारणा के साथ होती है, तो अनायास ध्यान सघन हो जाता है। गहरे कलाकार यह ध्यान साध लेते हैं। तभी तो उनके काव्य चित्र में रहस्यदर्शियों की सी झलकें मिलती हैं। इसीलिए तो कई बार काव्य ऐसा कुछ कह देता है, जिसे गद्य में कभी नहीं कहा जा सकता। इसी तरह कई बार पेंटिंग्स ऐसी झलक दे देती है, जिसे अन्य किसी भी ढंग से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

समाधि इससे भी आगे की स्थिति है। वैज्ञानिक बाहर है और कलाकार भीतर। लेकिन योगी वह है जो बाहर भी जा सकता है और भीतर भी रह सकता है। वह दोनों ध्रुवों के बीच समान रूप से गतिमान हो सकता है। इतना ही इन दोनों के पार भी उसकी गति और उपस्थिति है। क्योंकि वह चित्त का अवरोध

हटाकर पूर्ण चेतना में व्याप्त हो जाता है। यही तो समाधि है। यह स्थिति अकथनीय और अवर्णनीय है।

जब दृश्य विलीन हो गया द्रष्टा में और जब द्रष्टा विलीन हो गया दृश्य में। अब न तो कोई देखने वाला बचा और न ही देखे जाने वाला। कोई दूसरा रहा ही नहीं। ऐसी स्थिति में एक अद्‌भुत शान्ति व मौन छा जाता है। तब यह नहीं बताया जा सकता कि क्या बचा रह गया? क्योंकि यह सब कहने व बताने को कोई बचता ही नहीं। इसीलिए तो समाधि के बारे में कुछ भी नहीं कहा या बताया जा सकता, क्योंकि समाधि के बारे में कुछ भी कहना न कहने जैसा होगा। क्योंकि जो कहा जा सकता है वह या तो वैज्ञानिक होगा अथवा फिर काव्यात्मक। लेकिन समाधि का सच तो इन दोनों से पार व परे है। इसीलिए तो वह अकथनीय है, अनिर्वचनीय है।

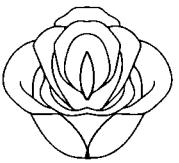

धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्व है संयम

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों में अनूठापन है। इनमें आलोक की अलौकिकता है, प्रकाश का प्रकटन है। इसके अनेक प्रयोगों में से यदि किसी एक को भी साध लिया जाय तो समस्त साधना का सुदृढ़ आधार तैयार हो जाता है। इसके प्रयोग चाहे बहिरंग हो या फिर अंतरंग योग साधक के बाहरी और आन्तरिक जीवन को पवित्र-प्रकाशित एवं परिपक्व करते हैं। इन प्रयोगों से बाहरी जीवन जहाँ मजबूत एवं सामञ्जस्यपूर्ण बनता है, वहीं आन्तरिक जीवन में ज्ञान का, प्रज्ञा का, सद्विवेक का आलोक अवतरित होता है। साधक के चिन्तन, चेतना एवं चित्त को सर्वथा नए आयाम मिलते हैं। निर्मल आनन्द का सहज निर्झर बहने लगता है।

योग साधना में समाधि विशेष है। समाधि से संस्पर्श मिलता है, विराट् है। जहाँ धारणा में मात्र परिचय हो पाता है। ध्यान में केवल उसे देखने भर से सन्तोष करना पड़ता है, वहीं समाधि में उसे छुआ जा सकता है। उस अद्भुत अलौकिकता की गहरी छुअन मिलने से समाधि विशेष है।

इस समाधि से भी विशेष एक सत्य और भी है। इसकी चर्चा महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में की है। यह योग सूत्र है-

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ३/४ ॥

शब्दार्थ= एकत्र= किसी एक ध्येय में; त्रयम्= तीनों का होना; संयमः= संयम है।

भावार्थ= धारणा, ध्यान और समाधि तीनों का एकत्रीकरण निर्मित करता है संयम को।

महर्षि पतंजलि अपने इस अनूठे सूत्र में संयम को एक अलग आयाम देते हैं। इसे अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। उनकी यह परिभाषा लीक से हटकर है, लोक प्रचलन से अलग है। लोक प्रचलन में संयम को अनुशासन या चरित्र नियंत्रण माना जाता है। लेकिन महर्षि ने इसे व्यापक दायरा दिया है। उनके अनुसार संयम जीवन में उस सन्तुलन का नाम है, जहाँ भेद मिट जाते हैं। जहाँ न दृश्य बचता है और न ही द्रष्टा। यह तो शान्ति की ऐसी आश्चर्यपूर्ण व्यवस्था है, जहाँ कोई दूसरा बचता ही नहीं है। यहाँ इस अवस्था में अन्तर्चेतना की सभी विभाजन रेखाएँ समाप्त हो जाती है।

बात सीधी है और सरल भी, पर इसे समझना शायद उतना आसान नहीं है। इसे समझने के लिए फिर से हमें धारणा, ध्यान और समाधि में समाए सच को जानना होगा। सबसे पहले धारणा है- इसका सामान्य मतलब एकाग्रता है। इस एकाग्रता का मतलब है पूरे के पूरे मन का एक ही जगह टिक जाना। उदाहरण के लिए मान लो हमने किसी गुलाब के फूल पर मन एकाग्र किया। यूं तो हम गुलाब के फूल को कई बार देखते हैं, लेकिन फिर भी पूरा का पूरा मन गुलाब पर नहीं टिक पाता। लेकिन अगर गुलाब के फूल पर मन केन्द्रित हो जाय तो फिर गुलाब का फूल ही समूचा संसार बन जाता है। मजे की बात इसमें यह है कि अपना चंचल बिखरा और फैला हुआ मन सिकुड़ता है, सिकुड़ता जाता है। और अन्त में टार्च की रोशनी की तरह एक ही जगह एकाग्र हो जाता है, जबकि गुलाब का फूल बड़े से बड़ा हो जाता है।

इससे पहले गुलाब हमारे लिए दुनिया की लाखों-करोड़ों चीजों में से एक था। पर अब ऐसा न रहा, अब तो गुलाब का वही एक फूल समूचा संसार बन गया। ऐसी दशा में गुलाब की अनेकों सूक्ष्म विशेषताएँ हमारे सामने प्रकट होने लगती हैं। उसमें से ऐसे-ऐसे रंगों और सुगंधों का अनुभव होता है, जिन्हें हमने इससे पहले कभी भी अनुभव न किया था। धारणा की इस अवस्था में पूरा संसार कहीं बाहर रह जाता है और केवल गुलाब ही संसार बन जाता है।

यह धारणा यदि निरन्तर बनी रहे तो स्वाभाविक ही इसमें ध्यान घटित हो जाता है। इस अवस्था में प्रकट होती है चेतना की गुणवत्ताएँ। पहले चरण में

जहाँ विषय की बाहरी सूक्ष्मताएँ प्रकट हुई थी, वहीं इस अवस्था में चेतना को, उसकी आत्मा को उद्घाटित कर देता है। ध्यान की यह अवस्था बड़ी अद्भुत एवं विचित्र है। यह बुद्धिगम्य न होकर बोधगम्य है। छोटे से गुलाब के फूल में ब्रह्माण्ड के सभी रहस्य प्रकट होने लगते हैं। बूँद स्वयं ही समुद्र का ज्ञान दे देती है। अस्तित्त्व का छोटा सा अंश भी स्वयं में समूची सृष्टि ही है। ध्यान की यह अवस्था इतनी विलक्षण है कि यहाँ पहुँचने पर अकेले गुलाब के फूल पर ध्यान करके दुनिया के किसी भी सच को जाना जा सकता है।

हाँ ध्यान होना चाहिए पूर्ण। यह ध्यान यदि गाढ़ा और गहरा हो तो वही ध्यान समाधि बन जाता है। इस अवस्था में मन एकरूप हो जाता है विषय से। तब गुलाब के फूल में और अपने मन में कोई अन्तर नहीं रहता। मन की इस विलीनता में बचा रह जाता है तो बस ज्ञान का आलोक। इसीलिए प्राचीन महर्षियों ने समाधि को ज्ञान का द्वार बना लिया था। महर्षि पतंजलि यहीं पर एक अनूठा शब्द जोड़ते हैं संयम। एक ऐसी अवस्था जबकि धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही घुल जाए परस्पर। इस अनूठी अवस्था में वह गुलाब का फूल जिस पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास किया गया था। अब वही मन को, अन्तर्चेतना को एक अपूर्व ढंग से रूपान्तरित कर देता है। मन और जीवन अपने आप ही ज्ञान के, प्रज्ञा के एक प्रकाशपूर्ण लोक में प्रवेश कर जाते हैं।

संयम की यह अवस्था इतनी अनूठी, विचित्र एवं विलक्षण है, कि इसे बिना अनुभूति के समझ पाना थोड़ा कठिन है। दरअसल बात यह है कि हमारा जीवन देह से, धरती के सुखों से बुरी तरह से चिपक गया है। हम अपने मन के पंखों का उपयोग ही नहीं कर पाते हैं। बस छोटे-मोटे सुखों में भूल कर उस परम आनन्द के विषय में भूले रहते हैं। यूं तो वह सदा से अपना ही है, बस हम ही हैं जो उसका स्मरण नहीं कर पा रहे। इसे कुछ यूं भी कहा जा सकता है कि समुद्र के किनारे पड़े हुए कंकड़, पत्थर और सीपियों को इकट्ठा करते हुए अपनी पूरी जिन्दगी गंवा दी और अपने अस्तित्त्व के अमूल्य आनन्द से चूकते रहे।

जो अनुभवी हैं वे सभी यही कहते हैं कि जीवन का खजाना तो स्वयं के भीतर ही छुपा हुआ है। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों इसी का द्वार खोलते हैं। और यदि ये तीनों मिल जाए तो फिर स्वयं के भीतर का अपूर्व आलोक प्रकाशित हो जाता है। एक ऐसी अवस्था जहाँ सब कुछ जाना जा सकता है, सब कुछ

समझा जा सकता है। सभी कुछ का अनुभव किया जा सकता है। जहाँ कोई भी वस्तु द्वार बन जाती है ज्ञान का, समाधि का। फिर भले ही वह छोटा सा गुलाब का फूल ही क्यों न हो। संयम की साधना करने से फिर ज्ञान के अवरोध बचे नहीं रहते। उन्मुक्त हो जाता है ज्ञान। स्वयं ही प्रकट होने लगती है अद्‌भुत अनुभूतियाँ। इन्हीं के साथ प्रकृति अपनी विभूतियों के द्वार खोलने लगती है।

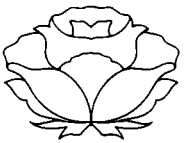

संयम सिद्धि से होती है बुद्धि प्रकाशित

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपने परिणाम व परिणति में योग साधक के चित्त-चिन्तन व चेतना से अंधियारा मिटाते हैं। अंधियारा व उजियारा कहने को दो शब्द हैं, लेकिन इन दो शब्दों में पूरी दो दुनिया सिमटी है। रोजमर्रा के सामान्य जीवन में इनका सामना हम हर रोज करते हैं। अंधियारा घिरते ही चोरों, तस्करों व लुटेरों का भय बढ़ जाता है। विषैले जन्तु, हिंसक पशु खुले आम घूमने लगते हैं। एक अजीब सी असुरक्षा, भय व भ्रान्ति का साम्राज्य छा जाता है। इस समय यदि प्रतीक्षा रहती है तो बस सूर्योदय की, उजियारा आने की। उजियारा आते ही जैसे पूरा संसार बदल जाता है। तब न भय बचता है और न ही भ्रान्ति। असुरक्षा, अनिश्चितता भी नहीं रह पाती। ठग, चोर, लुटेरे भी कहीं कोने में जाकर दुबक जाते हैं।

ऐसे में तो पक्षियों का कलरव, सुमनों की सुगन्ध ही सब ओर जीवन को एक सुखद व सुकूनदायक अहसास से घेर लेते हैं। जो सच बाह्य जगत् का है, कुछ वैसा ही मिलता-जुलता सच आन्तरिक दुनिया का है। जब तक अन्तःकरण तप की ऊर्जा व आत्मा के प्रकाश से रहित होता है, तब तक चिन्तन व जीवन में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छः शत्रु ही विचरण करते हैं। इन्हीं के चंगुल में चेतना छटपटाती रहती है। भावों में विक्षोभ, विचारों में द्वन्द्व व कर्म में दिशाहीनता ही जिन्दगी के सच के रूप में सामने आते हैं।

परन्तु जब योग के प्रयोग परिपक्व होते हैं तो स्थिति बदलती है। दूषित संस्कारों का शमन होता है, चित्त शुद्ध होता है और चिन्तन परिष्कृत। इसी के साथ जीवन निर्मल हो जाता है।

इन प्रयोगों का परिणाम योग के साधक को स्वाभाविक ही तप की ऊर्जा व प्रकाश से भर देते हैं। तब काम-क्रोध आदि षड्रिपु कहीं दूर चले जाते हैं। अन्तर्चेतना प्रकाशित होने के कारण भय व भ्रान्ति का कोई स्थान नहीं रहता। सर्वथा सन्देह रहित ज्ञान, अतुलनीय प्राणबल, अपरिमित साहस, हर पल मिलने वाली दैवी सहायताएँ योग साधक की सम्पत्ति बन जाती है। संक्षेप में कहें तो योग साधक की आकृति तो वही पुरानी रहती है, परन्तु प्रकृति पूर्णतया बदल जाती है। ऐसी प्रकृति जो होती है सर्वथा प्रकाश पूर्ण, परिमार्जित एवं दिव्य अनुभूतियों से युक्त। .

इस योगकथा में इसी परिमार्जित अवस्था की चर्चा की गयी है। इसमें बताया गया था संयम के सच को। धारणा, ध्यान व समाधि ये तीनों ही एक जुट हो जाएँ तो संयम सध जाता है। इस संयम के सधने से फिर समझो सब कुछ स्वयं ही सध जाता है। साथ ही साधक के जीवन में खुलता है साधना जीवन का सर्वथा नूतन व नवीन आयाम। उसे प्रवेश मिलता है आलोक के लोक में। इस अवस्था में जीवन एक अपूर्व ढंग से रूपान्तरित हो जाता है। जिस तरह से संयम धारणा, ध्यान व समाधि का एकत्रीकरण है। ठीक उसी तरह से संयम की उपलब्धियाँ भी सर्वथा भ्रान्ति रहित ज्ञान, अलौकिक सामर्थ्य व प्रकाश पूर्ण जीवन का एकत्रीकरण होती है।

इस अपूर्व अवस्था का सच महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में उद्घाटित करते हैं-

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ३/५ ॥

शब्दार्थ= तज्जयात्= उसको जीत लेने से; प्रज्ञालोकः= बुद्धि का प्रकाश होता है।

भावार्थ= संयम सिद्ध हो जाय तो उच्चतर चेतना के प्रकाश का आविर्भाव होता है।

योगऋषि पतंजलि का यह सूत्र अपने में गहरे अर्थ संजोये है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव अपनी चर्चाओं, वार्ताओं एवं आध्यात्मिक संगोष्ठियों में कहा

करते थे कि महर्षि पतंजलि के इस सूत्र ने भारत की संस्कृति एवं प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान को समृद्ध किया है। क्योंकि संयम सिर्फ योग में उन्नति का साधन नहीं है, बल्कि ज्ञान प्राप्ति का भी समर्थ साधन है। प्राचीन भारत के ऋषियुग में न केवल आध्यात्मिक प्रगति बल्कि भौतिक उन्नति भी इसी संयम साधन के बलबूते पर सम्भव हुई है।

इस प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए परम पूज्य गुरुदेव ने कहा कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों की आध्यात्मिक साधना भी लोकसेवा का माध्यम थी। धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्रित रूप संयम सिद्ध करने के बाद महर्षिगण आध्यात्मिक सत्यों के साथ प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों एवं घटकों का अनुसन्धान करते थे। गुरुदेव के अनुसार महर्षिगण प्रातः से लेकर सायं तक अरण्य में जाकर संयम के द्वारा वृक्ष-वनस्पतियों के लोकोपयोगी एवं औषधीय गुणों का पता लगाते थे। इसी विधि से उन्होंने अपनी रात्रिकालीन संयम साधना से अन्तरिक्ष के सत्यों के साथ ग्रह-नक्षत्रों की गति एवं ज्योतिष सम्बन्धी अनुसन्धान किए।

आज भारत के जिस आयुर्वेद एवं ज्योतिष गणित के ज्ञान से विश्व नतमस्तक है, उसमें से अधिकांश का ज्ञान संयम द्वारा ही अर्जित किया गया। इसी के द्वारा प्रकृति एवं पदार्थ के सूक्ष्म एवं अतिसूक्ष्म तत्त्वों एवं उनके गुणों का पता चला। इसके द्वारा ही अनेक आविष्कार-अनुसन्धान सम्भव हो सके। संयम साधना है ही इतनी विलक्षण एवं चमत्कारी। इसकी प्रक्रिया के बारे में बताते हुए परम पूज्य गुरुदेव का कहना था कि धारणा से एकाग्रता सधती है और ध्यान से तादात्म्य सधता है, जबकि समाधि साधक की चेतना से साधक को तदाकार कर देती है।

इन तीनों का मिला हुआ रूप संयम एक प्रकाशपुञ्ज की तरह से कार्य करता है। यह आन्तरिक चेतना के साथ बाह्य प्रकृति को भी प्रकाशित कर देता है। इस अन्तर्प्रकाश के दायरे में जो कुछ भी आता है, उसके सम्पूर्ण तत्त्व एवं सत्य योग साधक के सम्मुख स्वतः ही प्रकाशित हो जाते हैं। इनके बारे में वह जो भी एवं जितना भी जानना चाहता है, सब का सच जान जाता है। साथ ही इस माध्यम से जो भी जाना जाता है, वह सबका सब सत्य होता है। ऐसा सत्य जिसमें सन्देह एवं संदिग्धता के लिए कोई भी स्थान नहीं बचा रहता।

यही वजह है कि परम पूज्य गुरुदेव अपनी वार्ताओं में कहते थे कि सच्चा योग साधक वह है जिसके अन्तर्जगत में कभी भी सूर्यास्त नहीं होता। साधक की अन्तर्चेतना में, उसके अन्तर्गगन में सूर्य सदा ही प्रकाशित रहते हैं। यही वजह है कि सच्चा साधक न तो कभी भ्रमित होता है और न सन्देह में पड़ता है। न ही जीवन के अनेकों विषैले प्रश्न कंटक उसे चुभते रहते हैं। क्योंकि उसके पास सदा ही अपनी प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान है। संयम के द्वारा वह अपने एवं औरों के बाहरी एवं आन्तरिक जीवन के बारे में जो भी जानना चाहता है, सब का सब जान जाता है। इस संयम की भूमि पर खड़ा होकर वह ज्ञान के लिए ऊँची उड़ाने भरता है। और इस क्रम में उसके सामने प्रकाशित होते हैं, सर्वथा नवीन सत्य एवं नवीन तत्त्व। जो उसके एवं औरों के जीवन को प्रकाशित एवं समृद्ध करते हैं।

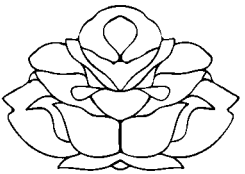

क्रमिक होती है संयम की साधना

अन्तर्यात्रा विज्ञान योग साधक को क्रमिक रूप से प्रकृति के पार ले जाता है। यह प्रक्रिया रहस्यमय और रोमांचक होने के साथ आश्चर्यजनक भी है। जो भी साधक इस अन्तर्यात्रा पथ के पथिक हैं, उन्हें इस सच की अनुभूति अपने दैनिक साधनाक्रम में होती रहती है। मानव जीवन का यह सर्वविदित सच है कि मानव मन की वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं। इसी वजह से मन की सारी दौड़ भाग बाहर की ओर होती रहती है। इसे उलटकर सीधा करना आसान काम नहीं है। इस महामुश्किल काम को करने के लिए ही अन्तर्यात्रा विज्ञान की सारी संरचना बनायी गयी है।

इस अनोखी-अनूठी संरचना के साँचे में ढलकर मानव चेतना न केवल परिष्कृत-परिशोधित होती है, बल्कि उसकी दशा सुधरती व दिशा बदलती है। इस क्रम में पहले बाहरी उपक्रम हैं, जिनके द्वारा शरीर को स्थिर व दृढ़ करने के साथ प्राण प्रवाह के संचालन को सम्यक्-सुचारू व ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। साथ ही मन को भी इसके अन्तर्गत शान्त, स्थिर व एकाग्र की जाने की व्यवस्था है। जो इतना कार्य करने में सक्षम है, केवल उन्हीं के लिए चेतना के अन्तर्गर्भ में प्रवेश सम्भव है। योग विद्या में जिसे संयम कहा गया है, वह योग साधना की, अन्तर्यात्रा विज्ञान की उच्च कक्षा है।

इस महत्वपूर्ण कक्षा में प्रवेश श्रेष्ठ, वरिष्ठ व पवित्र साधकों के लिए ही सम्भव है। यह द्वार है-रहस्यमय प्रकृति की आश्चर्यचकित कर देने वाली अनुभूतियों का। यह पथ है-असम्भव को सम्भव व साकार करने का। यह वह प्रकाशपूर्ण मार्ग है, जिसकी विशेषताएँ कहने में सभी विशेषण थक जाते हैं। जिसका नामकरण करने में व्याकरण की सभी संज्ञाएँ हार जाती हैं। जो इस पथ पर चलते हैं, वे प्रकृति को पराजित करते हैं, उसे स्वयं में विलीन करते हैं। हालांकि ऐसा करने से पहले उन्हें प्रकृति की समस्त व्यूह रचना को जानना, समझना व बेधन करना पड़ता है।

इस महाविद्या के ज्ञान के लिए ही तो आवश्यक है संयम। जिसके सिद्ध हो जाने पर योग साधक आलोक के लोक में प्रवेश करता है। महर्षि पतंजलि ने बताया कि यदि संयम सिद्ध हो जाए तो उच्चतर चेतना के प्रकाश का आविर्भाव होता है। इस प्रकाशपूर्ण अवस्था में ज्ञान के साथ दिव्य शक्तियाँ स्वयं ही योग साधक के अधिकार में आ जाती हैं। हालांकि इसकी भी एक विधि व्यवस्था है। अपना एक सुनिश्चित क्रम है। एक असाधारण विज्ञान विधान है। जिसके द्वारा ही यह कार्य सम्भव हो पाता है।

इस सच को योग ऋषि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में उद्घाटित किया है-

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥३/६ ॥

शब्दार्थ= **तस्य**= उस (संयम) का (क्रम से); **भूमिषु**= भूमियों में; **विनियोगः**= विनियोग (करना चाहिए)।

भावार्थ= संयम को चरण दर चरण संयोजित करना पड़ता है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अपूर्व और अद्भुत है। इस सूत्र में प्रकृति की सभी परतों को जानने, अनुभव करने और उनकी शक्तियों व विभूतियों को हासिल करने का विज्ञान है। जो इसमें निहित सच को जान जाता है, वह प्रकृति को पार करने की योग्यता भी पा लेता है।

इस सूत्र में जो रहस्य है, उन्हें बताने व कहने में ही पुराण कथाओं की सृष्टि हुई है। परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि पुराणों में जिन अद्भुत व आश्चर्यजनक लोकों का वर्णन है, वह सबका सब प्रकृति की परतों के सिवा और कुछ भी नहीं है। यदि योग साधक संयम को साध लें तो वह इन सभी लोकों की सैर बड़े आराम से कर सकता है।

अपनी आध्यात्मिक संगोष्ठियों व वार्ताओं में परम पूज्य गुरुदेव कहते थे कि योग साधना न केवल अन्तर्यात्रा है, बल्कि इसकी पूरी की पूरी प्रक्रिया एक रहस्यपूर्ण व आश्चर्यजनक तीर्थयात्रा है। एक-एक कदम के माध्यम से, आठ चरणों द्वारा महर्षि पतंजलि वापस स्वधाम की ओर ले जा रहे हैं। योग के पहले पाँच चरण-यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार के द्वारा वह शरीर से पार स्वयं की गहराई में उतरने में मदद करते हैं। शरीर पहली सतह है, अस्तित्त्व का पहला बाहरी घेरा है। दूसरा चरण है, मन के पार जाना। धारणा, ध्यान व समाधि के तीन आन्तरिक चरण साधक को मन के पार ले जाते हैं। शरीर व मन के पार है-'स्व' भाव, यही तो अस्तित्व का आत्मकेन्द्र है।

यही कैवल्य है। देह चेतना से कैवल्य तक की यात्रा बड़ी रोमांचक व अद्‌भुत है। इसके हर कदम पर रोमांच घटित होता है। इस पथ पर चलते हुए अनेकों बार अंधेरों व उजालों का सामना करना पड़ता है। अनगिनत सम्मोहक व विध्वंसक अनुभवों से गुजरना पड़ता है।

इन कटीली, रपटीली व भटकीली राहों से पार जाने के लिए परम पूज्य गुरुदेव पंचतत्त्वों का उपदेश देते थे। वह इन्हें योग साधना के पंचशीलों की संज्ञा देते थे। इनमें **पहला है-१. तप**-यानि कठोर अति कठोर शारीरिक-मानसिक श्रम, अदम्य सहनशीलता, महान साहस जो प्रत्येक दुष्कर परिस्थितियों के सामने टिका रहे और फिर अतुलनीय धैर्य। इन सभी चीजों का सम्मिलन ही तप है। **दूसरा तत्त्व है-२. स्वाध्यायशील होना**। इसका मतलब है सदा ही महान योग साधकों के अनुभवों से सीखते रहना। नित नए अनुभवों के लिए जागरुक रहना। गुरुदेव के अनुसार पोथी पढ़ने का नाम स्वाध्याय नहीं है, बल्कि यह तो नवीन अनुभवों के प्रति जागरुकता है।

इसके बाद **तीसरा तत्त्व ३. ईश्वर भक्ति है**, इसी में गुरुभक्ति का सत्य भी शामिल है। यदि साधक में यह विशेषता है तो उसे सदैव व सर्वकाल में दैवी सहायताएँ सुलभ होती रहती हैं क्योंकि गुरु एवं परमात्मा सर्वव्यापी बनकर अपने अनुगत भक्त एवं शिष्य को सहायताएँ पहुंचाते हैं। **चौथा तत्त्व ४. विवेक है**, यह वह आत्मदीप है, जिससे पथ प्रकाशित रहता है। इसी स्रोत से नए-नए विज्ञान विधान प्रकाशित व परिभाषित होते हैं। जिनके माध्यम से नए योग अनुभवों के द्वार खुलते हैं। **पाँचवा तत्त्व** ५. **वैराग्य है**। इसकी प्रखरता ही

योग साधक को सिद्धियों, विभूतियों एवं योग उपलब्धियों पर अटकने नहीं देती। वैराग्य योग साधक की अटकन-भटकन से रक्षा करता है।

परम पूज्य गुरुदेव का कहना था कि इन पंचशीलों की सम्पदा लेकर योग साधक को संयम का अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास क्रम को पहले स्थूल प्रकृति के स्थूल विषयों से प्रारम्भ करना उचित है। पुरातन काल में इसी माध्यम से स्थूल प्रकृति के ज्ञान को पाया गया था। फिर वे रहस्य चाहे धरती के हों या शरीर के अथवा वृक्ष-वनस्पतियों के। संयम के द्वारा इनको सम्पूर्णता से जाना गया। इस अभ्यास के पूरा होने पर सूक्ष्म प्रकृति के तत्त्वों व सत्यों पर अभ्यास करना चाहिए।

यहीं से लोक-लोकान्तर के रहस्य योग साधक के समक्ष अनावृत्त व उद्घाटित होते हैं। स्थूल की तुलना में इनका क्षेत्र अति व्यापक एवं विशाल है। इसका प्रारंभ प्राण लोक से होता है। यहाँ प्रकाश व अंधकार दोनों हैं। तदानुसार इसकी विभूतियाँ भी हैं। मानसिक क्षेत्र भी ऐसा ही है। इसकी एक-एक परत की विस्तीर्णता बहुत है। देवों के समुदाय से योग साधक यही भेंट करता है। इसके बाद के क्षेत्र प्रकाश पूर्ण हैं। इस परत के बाद अंधेरा नहीं रहता। हाँ, रहस्यमयता व रोमांच अवश्य बढ़ जाते हैं। सूक्ष्मता की इस परिधि को पार करके योग साधक प्रकृतिलीनता का अनुभव पा लेता है।

अनूठी है संयम की विभूति

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक को धीरे-धीरे अन्तर्यात्रा पथ पर गतिशील करते हैं। इस गति की तीव्रता व निरन्तरता के लिए ही अन्तर्यात्रा विज्ञान की-योगविद्या की समूची संरचना है। इसी के लिए इसके आठ चरण हैं। इनमें से पहले पाँच चरण बहिरंग हैं और बाद के तीन अन्तरंग हैं। इन दोनों की ही अपनी उपयोगिता, भूमिका व महत्व है। बहिरंग चरणों में पहले दो यम-नियम जीवन की प्रक्रिया व गतिविधि को देश-काल व समाज तथा परिस्थितियों के साथ समायोजित करते हैं। सामान्य क्रम में यह नहीं हो पाता। रह-रहकर जीवन का सन्तुलन देश व काल से तथा समाज व परिस्थितियों से बिगड़ता रहता है।

लेकिन जो यम-नियम की डगर पर चलने की कोशिश करते हैं, वे इस सन्तुलन को अनायास ही साध लेते हैं। उन्हें बाहरी घटनाक्रमों से कोई उद्विग्नता नहीं होती। किसी भी परिस्थिति से न तो वे स्वयं विक्षुब्ध होते हैं और न ही औरों को विक्षुब्ध करते हैं। यम-नियम की व्याख्याएँ कितनी ही विस्तृत क्यों न की जाती रहें, परन्तु इनका सारभूत परिणाम यही है, उद्वेग रहित-विक्षोभ रहित जीवन, फिर भी बाहरी परिस्थितियाँ कैसी भी और कितनी भी जटिल, कठिन क्यों न हों ? इसी तरह आसन-प्राणायाम व प्रत्याहार की आवश्यकता दृढ़ शरीर व मजबूत मन के लिए

है। जो अन्तर्यात्रा पथ पर चलना चाहते हैं, उनके लिए इसकी अनिवार्यता है।

ऐसा इसलिए क्योंकि शरीर व मन ही वह आधार हैं, जिनके बलबूते प्रारब्ध कर्म का क्षरण व क्षय होता है। यदि इनकी दृढ़ता में संशय है तो ये योग साधना में सहायक व सहयोगी होने के बजाय बाधक व विरोधी बन जाते हैं। इसलिए स्वस्थ शरीर व स्वच्छ मन अन्तर्यात्रा पथ की मूलभूत आवश्यकता हैं। ऐसा होने पर ही बहिर्मुखी चेतना अन्तर्मन के लिए प्रेरित व प्रवर्तित होती है। इस तरह योग के पहले पाँच चरण योग साधना की प्राथमिक एवं बाहरी आवश्यकता पूरी करने के कारण बाहरी या बहिरंग कहे जाते हैं। इसके बाद के तीन चरण धारणा-ध्यान-समाधि को अन्तरंग कहा जाता है क्योंकि ये अन्तर्चेतना व अन्त:प्रकृति को प्रभावित, परिशोधित, परिष्कृत व प्रकाशित करते हैं।

धारणा-ध्यान व समाधि तीनों मिलकर 'संयम' की सृष्टि करते हैं। यह अपनी प्रक्रिया व परिणाम में आश्चर्यकारी है क्योंकि जहाँ भी संयम किया जाता है तो स्वभावत: उसके सत्य का सम्यक् ज्ञान एवं उसकी शक्तियाँ हासिल हो जाती हैं। योगसूत्रकार ऋषि पतंजलि का कहना है कि संयम को चरण दर चरण संयोजित करना चाहिए। पहले स्थूल विषयों, बाद में सूक्ष्म व सूक्ष्मतर विषयों पर संयम करने से योगी विभूतियों का अधिकारी बनता है। इसके अगले सूत्र में महर्षि पतंजलि इन तीनों चरणों के अंतरंग होने की बात कहते हैं।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्य: ॥३/७॥

शब्दार्थ= पूर्वेभ्य:= पहले कहे हुओं की अपेक्षा; त्रयम्= ये तीनों (साधन); अन्तरङ्गम्= अन्तरंग हैं।

भावार्थ= धारणा, ध्यान व समाधि- ये तीनों चरण पहले के पाँच चरणों की अपेक्षा आन्तरिक हैं।

योग ऋषि महर्षि पतंजलि अपने सूत्र में गहरे रहस्य संजोये हैं। जो योग साधना की प्राथमिक, माध्यमिक कक्षाओं को पार करते हुए उच्च कक्षा में प्रवेश कर चुके हैं, केवल वही इस सूत्र का सत्य, इसका मर्म समझने की योग्यता व पात्रता रखते हैं। परम पूज्य गुरुदेव का कहना था कि महर्षि पतंजलि जिसे संयम कहते हैं, यह प्रकृति के सभी तालों की चाभी है। पहले कहे गए पाँच चरण स्थूल प्रकृति को परिशोधित-परिष्कृत करते हैं। इनकी विशेषताओं व सिद्धियों

को उजागर करते हैं। परन्तु संयम की तो बात ही अलग है। इसके माध्यम से योगी प्रकृति के अन्तर्गर्भ में प्रवेश करता है। इसकी सूक्ष्म परतों को बेध कर इनमें छिपी विभूतियों को उपलब्ध करता है और यदि इस अवधि में उसका विवेक-वैराग्य दृढ़ रह सका तो वह सम्पूर्ण प्रकृति के सत्य को समझ कर उसे पार करने में भी सक्षम होता है।

योग साधना का यह क्षेत्र अति रहस्यमय है और बेहद रोमांचक है। यहाँ अकल्पनीय घटनाएँ साकार रूप लेती हैं। ऐसी बातें जिनके बारे में सोचना-समझना, कहना और जानना प्रायः असम्भव है, वे सब की सब यहाँ सम्भव और साकार होती हैं। सामान्य क्रम में जिसे जड़, स्थूल व सीमाबद्ध समझा जा रहा था, उसी के अन्तर्गर्भ से, चैतन्य, सूक्ष्म व असीम प्रकट होने लगता है। इस अकथ कथा को कहना व समझना थोड़ा मुश्किल है। फिर भी अति प्रयास करने पर इसके सच का संस्पर्श पाया जा सकता है। इसी संस्पर्श में विभूतियों का वैभव छुपा है।

इसे भौतिक दृष्टि से यूँ भी समझ सकते हैं कि आमतौर पर पदार्थ की नन्हीं-इकाइयों के रूप में अणु-परमाणु का अस्तित्त्व लगभग नगण्य ही है। जब तक नाभिकीय विखण्डन की प्रक्रिया का अन्वेषण अनुसन्धान नहीं हो पाया था, इन्हें प्रायः निरर्थक ही जाना माना जाता था। लेकिन नाभिकीय विखण्डन के ज्ञान के बाद तो इनकी स्थिति ही बदल गयी। फिर तो जैसे प्रत्येक परमाणु ऊर्जा का महास्रोत बन गया। इसकी सृजनकारी व विनाशकारी शक्तियों ने समूचे मानव समुदाय को चौंका दिया। सभी जान पाए कि यदि परमाणु ऊर्जा का सृजनकारी उपयोग हो तो बड़ी से बड़ी शक्ति द्वारा नूतन सृष्टि का कायाकल्प हो सकता है। इसी तरह यदि कोई सिरफिरा इसका विनाशक उपयोग कर बैठे तो देखते-देखते विश्व के बड़े से बड़े महानगर राख के ढेर में तब्दील हो सकते हैं। संयम इसी तरह असाधारण कार्य दिखाता है।

योग के पहले पाँच चरणों की सीमा जहाँ समाप्त होती है, वहाँ से संयम की सीमा प्रारम्भ होती है। धारणा, ध्यान व समाधि तीनों एक साथ मिल जाने पर संयम का स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस संयम की गति सम्पूर्ण प्रकृति में सर्वत्र है। प्रकृति में जो कुछ भी है और जहाँ भी है, संयम के द्वारा सबका सब जाना व पाया जा सकता है। परा व अपरा प्रकृति के प्रत्येक रहस्य इससे सहज ही

उजागर हो जाते हैं। सच तो यह है कि जिसने संयम सीख लिया, उसे अन्य कुछ भी सीखने-जानने व पाने की आवश्यकता नहीं है।

संयम के द्वारा योग साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसका सम्पूर्ण अस्तित्त्व स्वयं ही मुस्करा उठता है। ऐसा संयमवान व्यक्ति स्वयं को लाख-कोशिशों के बावजूद छिपा नहीं सकता क्योंकि हवाओं में उसकी सुगन्ध बिखरने लगती है। भले ही वह पहाड़ों में चला जाए, या गुफा में जाकर बैठ जाए, लेकिन उसकी सुगन्ध लोगों तक पहुँच ही जाती है। जो लोग योग साधना की डगर पर चल रहे हैं, वे सब किन्ही अनजान मार्गों से चलते हुए उस तक पहुँच ही जाते हैं।

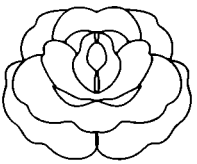

निष्कामता से खुलता है समाधि का द्वार

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग निरन्तर किए जाते रहें तो चिन्तन, चेतना व चित्त के परिष्कार की प्रक्रिया भी निरन्तर होती रहती है। यदि इसमें किसी भी तरह की बाधा आए तो परिष्कार की प्रक्रिया भी बाधित होती है। अन्तर्यात्रा विज्ञान व परिष्कार दोनों एक दूसरे के इतने समीप हैं कि इन दोनों को एक दूसरे का परिचय व पर्याय कहा जा सकता है। यहाँ तक कि परिष्कार को अन्तर्यात्रा विज्ञान की सम्पूर्ण विधि व्यवस्था व इसके विज्ञान-विधान का सारभूत परिणाम भी समझा जा सकता है। हाँ! इस कथन के साथ यह सच भी जुड़ा हुआ है कि इस परिष्कार के कई चरण हैं। इसका प्रथम चरण है- व्यवहार का परिष्कार और दूसरा चरण है- चिन्तन का परिष्कार। इसके बाद तीसरा व अन्तिम चरण- संस्कार का परिष्कार।

योग साधना में यम-नियम की प्रक्रिया व्यवहार के परिष्कार को पूर्ण करती है। इससे साधक का जीवन अपेक्षाकृत अधिक स्थिर व शान्त होता है। इसके बाद आसन, प्राणायाम के चरण हैं, जो योग साधक को अधिक दृढ़ बनाते हैं। साथ ही वह आधार प्रदान करते हैं, जो उसे चिन्तन के परिष्कार के लिए सर्वथा योग्य बना सके। इसके बाद की जाने वाली प्रत्याहार, धारणा, ध्यान की प्रक्रियाओं के द्वारा वृत्तियों का शमन होता है और चिन्तन परिष्कृत होता है। इसके बाद समाधि का क्रम है,

जो वृत्तियों का शमन करते हुए समाधि की उच्च-अवस्था के लिए योग्य बनाती है ।

इस योग कथा में बताया गया है कि धारणा, ध्यान व समाधि, इसके पूर्व में बताए गए साधनों की तुलना में कहीं अधिक अन्तरंग है । महर्षि पतंजलि ने इन्हें 'संयम' नाम दिया है । इस संयम के प्रभाव व परिणाम विशेष हैं । इसके द्वारा योग साधक प्रकृति की सभी विभूतियों को पाने का अधिकारी बनता है । जो इस अवस्था को पाते हैं, उनका जीवन सभी अलौकिकताओं व समस्त आश्चर्यों का साकार रूप बनता है । परन्तु फिर भी यह पर्याप्त नहीं है । बल्कि यह सब भी योग साधना के पथ में एक तरह की भटकन ही है । जो इसमें अटक जाते हैं, वे सभी प्राय:-प्राय: भटक जाते हैं ।

इस भटकन से बचने-उबरने का उपाय एक ही है कि योग साधक लौकिक, अलौकिक, अतिलौकिक उपलब्धियों को उपेक्षित कर दे । जीवन में आकांक्षाओं के बीज न बोये और संस्कारों को विनष्ट करे । जो ऐसा करने में समर्थ है केवल वही समाधि की उच्चतम कक्षा में प्रवेश कर पाता है । इस उच्चतम कक्षा के लिए, ध्यान-धारणा के तीनों चरण भी बाहरी है । महर्षि पतंजलि ने अपने अगले योग सूत्र में इसी सत्य को प्रकट किया है-

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ३/८ ॥

शब्दार्थ= तदपि= वे (ऊपर कहे गए धारणा, ध्यान व समाधि तीनों) भी; निर्बीजस्य= निर्बीज समाधि के; बहिरङ्गम्= बहिरङ्ग (साधन) हैं ।

भावार्थ= लेकिन निर्बीज समाधि की तुलना में ये तीनों बाह्य ही हैं ।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अपने में अनेकों गहन अर्थ संजोये हैं । महर्षि कहते हैं कि संयम द्वार और देहरी है निर्बीज समाधि की । अगर इसकी तुलना यम-नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार से की जाये तो संयम के तीनों तत्त्व धारणा, ध्यान व समाधि आन्तरिक व अंतरंग हैं ।

लेकिन इसके द्वारा मिलने वाले अनुभव चाहे जितने अलौकिक व चमत्कारी क्यों न हों, योग के चरम अनुभव की तुलना में बाह्य हैं । यदि बुद्ध, पतंजलि के परम अनुभव से इनकी तुलना करें तो यह कक्षा नीची है । इन्हें बीच की अवस्था से ज्यादा कुछ नहीं कहा जा सकता । पहले शरीर का अतिक्रमण, यह बाहरी है । फिर मन का अतिक्रमण, यह आंतरिक चरण है । परन्तु जब कोई

अपने शुद्धतम अस्तित्त्व को उपलब्ध हो जाता है, तो जो कुछ अभी आंतरिक मालूम होता था, अब बाहरी मालूम होने लगता है।

कहने को मन सूक्ष्म व आन्तरिक है, परन्तु पूरी तरह से आन्तरिक नहीं समझा जा सकता। हाँ शरीर की तुलना में जरूर आन्तरिक है। अगर योग साधक साक्षी भाव में स्थित हो जाय तब वह भी बाहर का हिस्सा हो जाता है। क्योंकि साक्षी होने की अवस्था में स्वयं के विचारों को देखा जा सकता है। अपनी कल्पनाओं की तरंगों को, मन-सरोवर में उठने वाली लहरों व भँवरों को बड़ी आसानी से निहारा-देखा जा सकता है। ऐसी दशा में विचार, कल्पनाएँ व उनका आधार मन एक साथ सबके सब बाहर के हिस्से बन जाते हैं। क्योंकि तब मन विषय होता है और इसे देखने वाला द्रष्टा होता है।

निर्बीज समाधि इससे पार है। जिसे यह अवस्था मिल गई, समझो अब उसका जन्म नहीं होगा। उसे अब संसार में वापस न लौटना होगा। वह फिर से समय-काल में प्रवेश न करेगा। निर्बीज का मतलब है जन्म व जीवन का कारण बनने वाली इच्छाओं व कामनाओं के बीजों का पूरी तरह से दग्ध हो जाना। इच्छा व कामना का कोई भी स्वरूप, कितना सूक्ष्म क्यों न हो, परन्तु यह है साधना में बाधक ही। स्वयं को पाने की आकांक्षा, सत्य को पाने, जानने की आकांक्षा, शान्ति अथवा आनन्द प्राप्ति की आकांक्षा ये सब आकांक्षाएँ ही हैं। पहली बार जब योग साधक को समाधि का अनुभव होता है, तब विषयी व विषय एक हो जाते हैं। लेकिन वहाँ भी आकांक्षा की हल्की सी छाया मौजूद रहती है। परमात्मा का साक्षात्कार करने की आकांक्षा।

नाम इसका कोई भी क्यों न हो, परन्तु होती यह आकांक्षा ही है। चाहे कितनी ही सूक्ष्म, अदृश्य अथवा प्रकाशपूर्ण क्यों न हो ? इसके हर स्वरूप को गिरा देने, हटा देने, मिटा देने पर ही निर्बीज समाधि सम्भव है। जब ध्यान पूरा हो तो ध्यान को भी छोड़ना होता है। क्योंकि तब ध्यान तो जीवन से एकाकार हो जाता है। ऐसे में भला अलग से ध्यान करने की क्या जरूरत, ध्यान पूर्ण होने पर न तो बाहर जाने की जरूरत रहती है और न भीतर आने की। जब बाहर व भीतर की सभी यात्राएँ समाप्त हो जाती है, तब सभी तरह की इच्छा, आकांक्षा व वासना छूट जाती हैं।

अकेले ध्यान को ही नहीं, समाधि को भी गिराना होता है। जब साधक समाधि के पार पहुँचता है तब जाकर निर्बीज समाधि फलित होती है। क्योंकि यही तो चरम अवस्था है। यहीं पहुँच कर अपने शुद्धतम अस्तित्त्व का अनुभव होता है। जहाँ किसी भी तरह की आकांक्षा के बीज विद्यमान हैं, वहीं इसका अनुभव नहीं होता। इस सत्य पर गहराई से विचार कर लेना जरूरी है। जब आकांक्षा या कामना की व्यर्थता या निरर्थकता समझ में आ जाय तब निर्बीज समाधि का जन्म होता है। आकांक्षा की समझ से ही आकांक्षा गिरती है।

निर्बीज समाधि की आकांक्षा सम्भव नहीं है। क्योंकि जब तक किसी भी तरह की आकांक्षा या कामना के बीज मौजूद है, तब तक समाधि निर्बीज न हो सकेगी। जब सभी तरह की आकांक्षाएँ या कामनाएँ गिर जाती है, तब अकस्मात निर्बीज समाधि फलित या घटित हो जाती है। इसका किसी भी तरह के प्रयास से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो बस घटित हो जाती है। बुद्ध ने इसे ही शून्य कहा है, यह स्वयं से आता है। यही उसका सौन्दर्य है। किसी भी अभीप्सा और आकांक्षा या कामना से सर्वथा अछूता। किसी लक्ष्य या उद्देश्य के द्वारा यह प्रदूषित नहीं। स्वयं में अतिशय शुद्ध व निर्दोष। यही है निर्बीज समाधि, जिसके लिए धारणा, ध्यान व समाधि के तीन तत्त्वों से बना संयम भी बाह्य है।

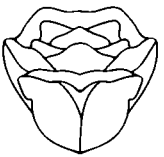

चित्त की चंचलता का रूपान्तरण है समाधि

अन्तर्यात्रा विज्ञान योग साधकों की अन्तर्यात्रा को सहज-सुगम, प्रकाशित व प्रशस्त करता है। इसके प्रयोग प्रारम्भ में भले ही प्रभावहीन दिखें, पर परिपक्व होने के बाद परिणाम में चमत्कारी सिद्ध होते हैं। जो निरन्तर साधनारत हैं, जिनका तन-मन-प्राण, चित्त व चेतना योग में लय प्राप्त कर चुकी है, वे सभी इसके मर्म को भली भाँति अनुभव करते हैं। चित्त शुद्धि अथवा चित्तवृत्ति निरोध कहने में भले ही एक शब्द लगे लेकिन इस अकेले शब्द में योग के सभी चमत्कार, सिद्धियाँ एवं विभूतियाँ समायी हैं। जो साधना पथ पर गतिशील हैं, वे सभी इस सच्चाई से सुपरिचित हैं और इसी वजह से कोई भी विवेकवान, विचारशील योग साधक कभी भी किसी चमत्कार या विभूति के पीछे नहीं भागता। बल्कि सदा ही वह स्वयं को पवित्र, प्रखर व परिष्कृत करने में लगा रहता है।

इस योगकथा में अंतरंग साधनों की चर्चा की गयी है। इस चर्चा में यह कहा गया था कि ये अंतरंग साधन अंतरंग होते हुए भी निर्बीज समाधि की तुलना में बहिरंग हैं। दरअसल योग साधन का बहिरंग या अंतरंग होना योग साधक की भावदशा एवं चेतना की अवस्था पर निर्भर है। जिसकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं, वह अनेकों प्रयत्नों के बावजूद सूक्ष्म व आन्तरिक साधनों व साधना का प्रयोग नहीं कर पाता। यही वजह है कि योग साधना बहिरंग साधनों से प्रारम्भ होकर

क्रमिक रूप से आन्तरिक व अंतरंग होती है। बाद की परिपक्व अवस्था में तो समाधि ही साधना बन जाती है और साधक क्रमिक रूप से इसके उच्चतर व उन्नत तलों पर अधिकार प्राप्त करता है।

इसमें सहायक व बाधक संस्कारों का सच अगले सूत्र में महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है-

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥३/९॥

शब्दार्थ= व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः अभिभव-प्रादुर्भावौ= व्युत्थान अवस्था के संस्कारों का दब जाना और निरोध अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना-यह; निरोधक्षणचित्तान्वयः= निरोधकाल में चित्त का निरोध-संस्कारानुगत होना; निरोधपरिणामः= निरोध परिणाम है।

भावार्थ= निरोध परिणाम मन का वह रूपान्तरण है, जब मन में निरोध की अवस्थिति व्याप्त हो जाती है। जो तिरोहित हो रहा- भाव संस्कार और उसके स्थान पर प्रकट हो रहे भाव विचार के बीच क्षण मात्र को घटित होती है।

महर्षि के इस सूत्र में साधना है, सिद्धि है और साधक का स्वरूप है। इसी के साथ इसमें साधना पथ की बाधाएँ हैं और सहायताएँ हैं। संक्षेप में इस सूत्र का सत्य व तत्त्व यह है कि यदि इस सूत्र की सम्पूर्ण गहराई-समूची ऊँचाई व सारी की सारी लम्बाई की माप कर ली जाय तो समझ लो कि योग साधना का सम्पूर्ण विज्ञान-विधान समझा जा सका। इन पंक्तियों में जो कुछ कहा गया है, उसे तनिक भी अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं समझना चाहिए क्योंकि इस अनूठे सूत्र की महत्ता व गरिमा ही ऐसी है।

इस सूत्र के सच की गइराई परखें तो इसमें मूलभूत बातें चार हैं। १. व्युत्थान संस्कार, २. निरोध संस्कार, ३. निरोध क्षण एवं ४. निरोध परिणाम। इन चार बातों को यदि ढंग से समझ लिया जाय, इन्हें आत्मसात कर लिया जाय तो योग साधना के विज्ञान का आधारभूत ढाँचा सुस्पष्ट हो जाता है। इसमें सबसे पहली बात जिसे समझना है, वह है १. व्युत्थान संस्कार। इसमें व्युत्थान का मतलब ही है विचलन, विचारों की आवाजाही से उपजी चंचलता। यही है हमारे मन की सामान्य अवस्था। इसी अवस्था में हम सब अपनी रोज की जिन्दगी जीते हैं। एक विचार आता है, तो मन उसके द्वारा ऐसे आच्छादित हो जाता है, जैसे कि

आकाश पर कोई बादल छा गया हो। हालाँकि कोई भी विचार स्थायी नहीं होता, क्योंकि विचार का तो स्वभाव ही अस्थायी है। व्युत्थान संस्कार की इस अवस्था से हम सभी इतने अभ्यस्त हो चुके हैं कि हम सबने इसे ही अपने मन का स्वभाव मान लिया है।

लेकिन मन का, चित्त का एक स्वभाव और भी है, जो निरोध संस्कार के रूप में प्रकट होता है। २. निरोध संस्कार है तो विरल भाव दशा, लेकिन यह अपनी झलक दिखा ही देती है। यह ऐसी अवस्था है, जैसे- आकाश में कोई भी बादल का टुकड़ा न हो। आसमान पूरा का पूरा साफ-स्वच्छ हो। ऐसी दुर्लभ-विरल अवस्था ही योग साधना में सच्ची सहायक है। योगी जन इसी भावदशा में जीते हैं। यह है मन की निर्विचार अवस्था। यहाँ विचारों की कोई भी आवाजाही नहीं होती। सड़क पर जैसे वाहन गुजरते हैं। एक कार आयी-दूसरी गयी। यह आवाजाही चलती रहती है। पर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सड़क पूरी की पूरी सूनी हो। वहाँ से कोई भी वाहन न गुजरे। यह निर्विचार मन की दशा जैसे सड़क का पूरा-पूरा खाली हो जाना निरोध संस्कार को स्पष्ट करता है।

इसकी सामान्य झलक मिलती है ३. निरोध क्षण में। यह क्षण बड़ा ही महत्त्वपूर्ण होता है। जब एक विचार जा रहा होता है, उसकी जगह दूसरा विचार आ रहा होता है, तब इन दोनों विचारों के बीच एक बड़ा सूक्ष्म अन्तराल होता है। जब एक विचार जा चुका और दूसरा विचार अभी तक आया ही नहीं, यही क्षण निरोध का होता है। यह ऐसा एक सूक्ष्म अन्तराल होता है, जब हम सचमुच ही निर्विचार अवस्था में होते हैं। उस क्षणिक अन्तराल में बादल रहित आकाश की तरह चित्त स्वच्छ होता है। अगर कोई उस समय जागरूक हो, होश में रहे तो इसे देख सकता है। इसी को महर्षि पतंजलि ने निरोध क्षण कहा है।

निरोध क्षण के बाद इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का चौथा तत्त्व है ४. निरोध परिणाम। यह है चित्त की रूपान्तरित अवस्था। ऐसी अवस्था जिसमें व्युत्थान संस्कार शान्त व शमित होते हैं। इनकी कोई भी सक्रियता नहीं होती। जबकि निरोध संस्कार यानि कि निर्विचार भावदशा से मन सम्पूर्णतया आच्छादित रहता है। इस निरोध परिणाम को पाने के लिए साधक को निरोध क्षण को अपने ध्यान का विषय बनाना होता है। दरअसल यह ध्यान की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है। ऐसी विधि जिसमें बस शान्त व साक्षी बनकर आते-जाते विचारों को देखना

होता है। शुरूआत में यह कठिन होता है। पर बाद में इसका अभ्यास होने लगता है और तब समझ में आता है, विचारों का अन्तराल, महर्षि की भाषा में निरोध क्षण।

इसी पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होता है। काफी कठिन प्रयास के बाद यह हो पाता है। जब ऐसा होने लगता है तब पता चलता है कि धीरे-धीरे यह अन्तराल बढ़ता जा रहा है और विचारों की आवाजाही, रेल-पेल, विचारों की भाग-दौड़ कम होती जा रही है और उन्हीं विचारों के अन्तराल में समाधि की पहली झलक मिलने लगती है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव अपनी आध्यात्मिक वार्ताओं में कहते थे कि अगर तुम्हें एक बार भी विचारों के बीच अन्तराल का आनन्द मालूम हो जाता है तो एक अद्‌भुत आनन्द की वर्षा हो जाती है। और जब सतत् ध्यान से यह शून्यता स्थायी बन जाती है, तब यह आनन्द भी सदा-सदा के लिए तुम्हारा अपना हो जाता है। यही तो है निरोध परिणाम। ऐसी रूपान्तरित अवस्था जिसमें मन में निरोध की अवस्था स्थायी हो जाती है।

दिव्यता की एक झलक से बदलती है दुनिया

अन्तर्यात्रा विज्ञान योग साधक के अस्तित्त्व, उसकी चेतना के स्वरूप, संरचना, उसकी क्रियाविधि का बोध कराता है। उसके गहन आयामों, उसके गहरे रहस्यों से परिचय कराता है। जो बातें अनजानी हैं, जो राहें अनजानी हैं, वे सभी अन्तर्यात्रा के वैज्ञानिक प्रयोग करने वाले योग साधक के समक्ष प्रशस्त हो जाती हैं। बस आवश्यकता इसमें लय व लीनता की है। जो स्थिर व एकाग्र नहीं है, वे इन प्रयोगों को थोड़े-बहुत समय करने के बाद हताश-निराश हो जाते हैं। ऐसे लोग प्राय: यह कहते सुने जाते हैं कि इन सब बातों में आखिर धरा ही क्या है ? ऐसी बातें केवल पुस्तकों में ही अस्तित्त्व रखती हैं और वहीं अच्छी लगती हैं। जबकि सच इससे बहुत भिन्न है। बाह्य जगत् की तरह, स्थूल प्रकृति की ही भाँति, अन्तर्जगत का, सूक्ष्म प्रकृति का भी सर्वांगपूर्ण विज्ञान है। इसे वही जान पाते हैं, जो इसके प्रयोगों में स्वयं को लीन करते हैं।

निरोध परिणाम मन का वह रूपान्तरण है, जब मन में निरोध की अवस्थिति व्याप्त हो जाती है। इस अवस्था में व्युत्थान संस्कार दब जाते हैं, तिरोहित हो जाते हैं। उनका प्रभाव नहीं रह जाता। क्योंकि व्युत्थान संस्कार के होते हुए निरोध की अवस्थिति असम्भव है। व्युत्थान संस्कार तो सहज ही योग साधक की साधना में बाधा पहुँचाते हैं। उसके चित्त को अस्थिर व विचलित करते हैं। इनके क्षीण होने पर, दबने या मिटने पर ही चित्त स्थिर व निरुद्ध हो पाता है।

यदि यह स्थिति बनी रह सके तो चित्त प्रशान्तवाही हो जाता है। इस योग सत्य को महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में प्रकट किया है-

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ ३/१०॥

शब्दार्थ= संस्कारात्= संस्कार बल से; तस्य= उस (चित्त) की; प्रशान्तवाहिता= प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

भावार्थ= यह प्रवाह पुनरावृत्त अनुभूतियों, संवेदनाओं के द्वारा शान्त हो जाता है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अनुभव की अनूठी मिठास लिए हुए है। यह एक ऐसा अनुभव है, जिसे अनुभवी जानते हैं, और वही कह सकते हैं। चित्त यदि एक क्षण के लिए भी निरूद्ध हो जाता है, तो यह अनुभव स्वत: ही प्रकट हो जाता है। फिर हम पिछले कितने समय से भ्रान्ति, भ्रम, भुलावे व भटकन में जी रहे थे, इससे कुछ खास फर्क नहीं पड़ता। इस अनुभव में, निरोध परिणाम के क्षण में जो झलक मिलती है, उससे सभी झूठे तादात्म्य अचानक विलीन हो जाते हैं। अब इन तादात्म्यों से तुम अपने आपको और अधिक धोखा नहीं दे सकते। यह निरोध परिणाम सच्चे अस्तित्त्व की झलक दिखा देता है। धूल, गर्द, गुबार की अनेकों पर्तों के नीचे जो सच्चा मोती छुपा हुआ है, उसकी पहली झलक अचानक दिखा देता है। ये धूल की सभी पर्तें और कुछ भी नहीं है, ये पर्तें हैं हमारे अपने विचारों की, संस्कारों की, कल्पनाओं की, स्वजनों की, इच्छाओं की। इन पर्तों में विचार ही विचार हैं। अगर एक बार भी निर्विचार प्रकट हो जाता है, यदि एक बार भी निरोध परिणाम प्रकट हो जाता है, तो फिर पहले जैसा नहीं रहा जा सकता। रूपान्तरण सुनिश्चित है।

परम पूज्य गुरुदेव इस सन्दर्भ में हमेशा ही यह कहा करते थे कि दिव्यता की, ईश्वरीयता की झलक भले ही एक क्षण के लिए मिली हो, पर वह क्षण बड़ा अमूल्य हो जाता है। क्योंकि इसे देखकर कुछ और देखने का मन नहीं करता है। इसे पाकर कुछ और पाने का मन नहीं करता है। बस बार-बार उसी को खोजने के लिए मन भागता है। आखिर उसे भुला देना सम्भव जो नहीं है। मन की इसी चेष्टा के कारण, इस स्वभाव के कारण निरोध परिणाम का संस्कार बल बढ़ता जाता है और फिर चित्त की स्थिति प्रशान्तवाहिता हो जाती है।

पूज्य गुरुदेव इस सच को अधिक स्पष्ट करने के लिए एक कथा सुनाया करते थे। यह कथा महान् दार्शनिक, आचार्य व सन्त रामानुजाचार्य के सन्दर्भ में है। आचार्य रामानुज अलौकिक सन्त थे। उनकी आध्यात्मिक विभूतियाँ उनके समय में हर एक के द्वारा कही-सुनी जाती थीं। उनके अनेकों अनुयायियों में एक अनुयायी ऐसा भी था, जो उनका अनुगमन व अनुसरण करने से पहले दस्यु था। इस दस्यु की दहशत चारों ओर थी। आस-पास के और दूर-दूर के लोग उसके नाम से ही घबराते थे। बड़ा कठोर स्वभाव था उसका। दुर्दम नाम था उसका। उस क्षेत्र के नरेश और उनकी सेना कई बार उसे पकड़ने का असफल प्रयास कर चुकी थी। फिर भी वह बिना किसी रोक-टोक घूमता था।

ऐसा भयानक दस्यु जिसे पकड़ने में राज्य की सम्पूर्ण सेना असफल हो चुकी थी, वह कालवश एक अति सुन्दर नर्तकी के प्रेम में पड़ गया। यह नर्तकी जिसका नाम स्वर्णरोमा था, दुर्दम उसके आगे-पीछे सदा घूमता रहता। एक अजीब सी स्थिति थी यह, जो देखता उसे यह सब अटपटा लगता। पर कोई करता भी क्या? दुर्दम का आतंक उन्हें भयभीत बनाये रखता था। उन्हीं दिनों श्रीरंगम में एक विशाल मेला आयोजित हुआ। इस मेले में आचार्य रामानुज आये हुए थे। दुर्दम भी स्वर्णरोमा के साथ वहाँ पहुँच गया। आचार्य अपने शिष्यों के साथ एक वृक्ष की छांव में बैठे थे। इधर दुर्दम स्वर्णरोमा के पीछे-पीछे छतरी लिए चल रहा था। उसके मुख पर अजीब सी बेचैनी, पीड़ा व विकलता के भाव थे। स्वर्णरोमा यदा-कदा उसे डांट देती । इतना भयानक दस्यु और एक सुन्दर नर्तकी के सम्मुख इतना विवश। इस विचित्र स्थिति को देख तो सभी रहे थे, पर कह कोई कुछ नहीं रहा था।

आचार्य रामानुज ने भी यह दृश्य देखा। उन्होंने अपने शिष्यों से पूछा, 'कौन है यह विचित्र मनुष्य?' शिष्यों ने एक दूसरे की ओर देखा, फिर बोले- 'भगवन्! यह खतरनाक दस्यु दुर्दम है।' यह उत्तर सुनकर आचार्य ने थोड़ी देर के लिए सोचा फिर बोले- 'अच्छा! तुम लोग उसे मेरे पास बुला कर ले आओ।' इस आदेश को सुनकर शिष्यों ने थोड़ी देर के लिए तो सोचा फिर उन्होंने आचार्य की आध्यात्मिक शक्तियों पर विश्वास करके अपने पांव आगे बढ़ाये। वे दुर्दम के पास पहुँच कर बोले- 'हमारे आचार्य ने तुम्हें बुलाया है।' आचार्य रामानुज ने बुलाया है, यह सोचकर दुर्दम थोड़ा सकपकाया, डरा।

क्योंकि उसने भी आचार्य के अलौकिक आध्यात्मिक व्यक्तित्व के बारे में बहुत कुछ सुन रखा था।

पर करता भी क्या ? वह चुपचाप स्वर्णरोमा के साथ आचार्य की ओर चल पड़ा। पास पहुँचकर उसने आचार्य को प्रणाम किया। आचार्य रामानुज ने उससे पूछा- 'वत्स ! तुम बलिष्ठ होकर इतने भयभीत क्यों हो ? इस सुन्दरी के पीछे इस तरह क्यों घूम रहे हो ?' उत्तर में उसने कहा- 'भगवन् ! इसकी सुन्दरता ने मुझे सम्मोहित कर रखा है। इसके कारण मैं इसके पीछे घूमता रहता हूँ। परन्तु इसकी नाराजगी से मुझे सदा डर लगा रहता है।' इससे आचार्य हँसकर बोले- 'यदि कोई तुम्हें इससे भी सुन्दर मुख दिखा दे तो ?' ऐसा कहकर आचार्य ने अपने तपबल से उसे भगवान् श्रीकृष्ण की भुवनमोहिनी झलक दिखा दी। इसे देखकर दुर्दम विह्वल हो गया। उसने आचार्य से कहा- 'भगवन् ! अब तो मुझे उन्हीं का साथ चाहिए।' आचार्य बोले- 'इसके लिए तो साधना करनी होगी वत्स !'

उत्तर में उसने कहा- मैं सब कुछ करूँगा। भगवान् श्रीकृष्ण की एक झलक एवं आचार्य रामानुज के मार्गदर्शन ने दस्यु दुर्दम को सन्त बना दिया। इस कथा को सुनाते हुए परम पूज्य गुरुदेव ने बताया था कि समाधि की एक झलक, निरोध परिणाम का एक क्षण जीवन में ऐसा ही सुपरिणाम, सत्परिणाम ला देता है। उसे और अधिक पाने की खोज और अधिक अपनाने की इच्छा, जीवन को आमूल-चूल रूपान्तरित कर देती है। फिर विचारों की उधेड़-बुन शान्त हो जाती है। और निर्विचार की अवस्था सहज और स्वाभाविक हो जाती है।

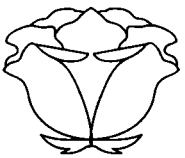

अशान्ति का समाधान है एकाग्रता

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग सूक्ष्म एवं रहस्यमय हैं। इन्हें शब्दों में सुना तो जा सकता है, पर सही ढंग से समझा नहीं जा सकता। इन्हें समझने के लिए साधना और अनुभव से गुजरना पड़ता है। साधना की क्रियाएँ और अनुशासन योगसाधक को परिणाम में ऐसे अनुभव देते हैं, जो सर्वथा अकल्पनीय व अलौकिक होते हैं। योग के प्रयोग से विहीन व्यक्ति इनकी कल्पना नहीं कर सकता है क्योंकि इनके द्वारा जीवन धीरे-धीरे रूपान्तरित होने लगता है। जीवन की आकृति तो वही रहती है, पर प्रकृति आमूल-चूल बदल जाती है। यह बदलाव आन्तरिक व बाह्य दोनों तलों पर होता है। न केवल व्यवहार बदलता है, बल्कि आन्तरिक स्थिति भी बदल जाती है। अन्त:करण में ऐसी अवस्था आती है जहाँ वैचारिक द्वन्द्व, अस्थिरता एवं भावनात्मक विक्षोभ का कोई नामोनिशान नहीं रहता।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के सभी प्रयोग व इनके परिणाम सकारात्मक एवं विधेयात्मक होते हैं। यहाँ किसी भी निषेध व नकार के लिए कोई स्थान नहीं है। इन प्रक्रियाओं व प्रयोगों में जो कुछ किया जाता है वह भी सकारात्मक होता है और जो कुछ पाया जाता है वह भी सकारात्मक व सार्थक होता है। यह ऐसी कहानी है जो सुनकर नहीं बल्कि इस कथा के पात्र बनकर ही जानी जाती है। हालांकि सुनने-कहने में भी इसकी रोचकता कम नहीं है, पर पात्र बनकर इसमें

जो अनुभूति मिलती है, उसका वर्णन एवं विवरण दे पाना संभव नहीं है। बस जो इन्हें अपने जीवन में क्रियान्वित करते हैं वे अपने अन्त:करण के अंधियारे को कटते, छँटते, हटते, मिटते देख पाते हैं। वे अनुभव कर पाते हैं कि परमात्म प्रकाश की अवतरित होती धाराएँ उन्हें रूपान्तरित कर रही हैं।

निरोध परिणाम के संस्कार बल से चित्त प्रशान्तवाही हो जाता है। अपने योग अनुभव की बात करें तो यही कहना होगा कि यह आन्तरिक रूपान्तरण की शुरूआत है। एक सुखद व शुभकारी प्रारंभ है। यह इस बात की आहट है कि दूषित संस्कारों की कालिमा कटने लगी है। जो संस्कार, जो कर्मबीज योग साधना की उच्चस्तरीय कक्षा में पहुँचने में बाधक थे वे अब अपना अस्तित्त्व क्षीण करने लगे हैं। अब व्युत्थान, व्यतिरेक एवं व्याघात के बीजों का दहन व नाश होना प्रारंभ हो गया है और यही स्थिति यदि बनी रह सकी तो अब समाधि दूर नहीं है।

इस समाधि सत्य की चर्चा महर्षि अपने अगले सूत्र में करते हैं-

सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम: ॥ ३/११ ॥

शब्दार्थ= सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ= सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने वाली वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषय को चिन्तन करने वाली एकाग्रता-अवस्था का उदय हो जाना यह; चित्तस्य= चित्त का; समाधिपरिणाम:= समाधि परिणाम है।

भावार्थ= समाधि परिणाम वह आन्तरिक रूपान्तरण है, जहाँ चित्त को तोड़ने वाली अशान्तवृत्तियों का क्रमिक ठहराव आ जाता है और साथ ही एकाग्रता उदित होती है।

महर्षि के इस अनूठे सूत्र में आज के इन्सानी जीवन की समस्या और उसका समाधान एक साथ है। समस्या है अशान्त वृत्तियाँ तथा समाधान है उनका शान्त होना। यदि इस शान्ति के पश्चात् एकाग्रता का उदय हो सके तो समझो कि आन्तरिक विकास की ओर बढ़ चले। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव का कहना था कि जब मस्तिष्क में अनेकों विचार एक साथ होते हैं, तो उस समय व्यक्ति एक नहीं रह जाता है। वह अनेक खण्डों में बंट जाता है। उसकी चेतना एक नहीं रह जाती। उस समय वह भीड़ बन जाता है, उसके भीतर विचारों की भारी भीड़ होती है। और जब ऐसा हो रहा हो तो देखने पर यह साफ नजर आ

जाएगा कि व्यक्ति अपने ही भीतर अलग-अलग भागों में बंट गया है। यह बंटवारा उतने ही हिस्सों में होता है जितने कि उसके मन में विचार चल रहे होते हैं।

ऐसी अवस्था बड़ी विचित्र होने के साथ बड़ी घातक भी है क्योंकि प्रत्येक विचार के साथ उस व्यक्ति की ऊर्जा बहती है और जब मन में विचारों की भीड़ सब ओर भाग रही हो, तो फिर यह ऊर्जा भी स्वभावत: चारों ओर दौड़ने लगती है। ऐसी दशा में वह व्यक्ति करीब-करीब विक्षिप्तता की दशा में पहुँच जाता है। ऐसे व्यक्ति को न तो अपने लक्ष्य का पता होता है और न ही राह का। वह तो बस अपने भिन्न-भिन्न विचारों के साथ भाग रहा होता है। वह कोशिश तो करता है कि उसके सभी लक्ष्य एक साथ सध जाएँ परन्तु इस कोशिश में अन्त में वह पाता है कि हाथ खाली के खाली रह गए।

लेकिन जब चित्त को तोड़ने वाली इन अशान्त वृत्तियों में क्रमिक ठहराव आ जाता है, तब उदय होती है एकाग्रता। फिर यहीं से शुरू होता है एक आन्तरिक रूपान्तरण जिसे समाधि परिणाम कहा गया है। यह ऐसी अवस्था है जबकि चेतना का प्रवाह एक ही दिशा में होने लगता है। चित्त, चेतना एवं चिन्तन को एक सुनिश्चित दिशा मिल जाती है। जिसके माध्यम से लक्ष्य तक पहुँच पाना और पूर्णता की प्राप्ति संभव बन पड़ती है।

समाधि इसी के लिए कारगर साधन है। समाधि में कोई भी बीज साधक को अशान्त, अस्थिर नहीं कर पाती। अस्तित्त्व के साथ साधक के व्यक्तित्व की एक अधूरी लयबद्धता, एक अनोखा तालमेल बन पड़ता है। फिर कोई समस्या रह ही नहीं जाती। अब कोई दूसरा बचता ही नहीं जो उसकी शान्ति भंग कर सके। यह दूसरा या दूसरे तो विचारों की भीड़ है वहीं तो दूसरे हैं। जहाँ विचार है ही नहीं वहाँ तो केवल निर्विचार है। वही है समाधि, वहीं शान्ति और मौन है। यहाँ निर्विचार से यह मतलब नहीं लगा लेना चाहिए कि अब विचार करने की क्षमता बाकी ही न बची। बल्कि इसके विपरीत पहली बार सही मायने में विचार करने की, मनन करने की क्षमता का आविर्भाव होता है।

इसके पहले तक जब कि विचारों की भीड़ घेरे रहती थी, तब तो व्यक्ति केवल इन विचारों का शिकार होता रहता था। ये सभी विचार सामाजिक वातावरण से आ-आकर मन में बसेरा कर लेते थे। कुछ ऐसे जैसे कि पक्षी सांझ

के समय वृक्षों पर बसेरा कर लेते हैं। मन में भीड़ पैदा करने वाले सभी विचार प्राय:-प्राय: औरों के ही होते हैं। इनमें अपना मौलिक कुछ भी नहीं होता। यह सभी कुछ उधार का ही होता है, फिर यह उधार पुस्तकों से लिया गया हो या इन्सानों से अथवा आस-पास के वातावरण से।

समाधि की अवस्था में यह उधार वाली बात नहीं होती। तब तो योग साधक बन जाता है, संपूर्ण विराट् अस्तित्त्व का एक अभिन्न अंश, स्वयं परमात्मा का परम प्रिय अंश। इस दशा में भीतर गहन शान्ति और विराम छा जाता है। और तब पहली बार उदय होती है, सृजन की मौलिक क्षमता। इन क्षणों में जो विचार उपजते हैं, वे सर्वथा मौलिक होते हैं। इनके प्रभाव से संपूर्ण जीवन भी मौलिक, यथार्थ व सार्थक बन जाता है। इस जीवन में सुबह की ठण्डी हवा जैसी शीतलता, ताजगी व सुगन्ध होती है। जिसे भी इस भावदशा का स्पर्श मिलता है, आनन्द की तरंग, उत्सव के निर्झर फूट पड़ते हैं। जीवन अपने मौलिक स्रोत से प्रवाहित होने लगता है। जहाँ ऐसा हो रहा है समझो कि वहाँ महर्षि पतंजलि के द्वारा बताया गया समाधि परिणाम एक वास्तविक घटना बनकर घटित हो रहा है।

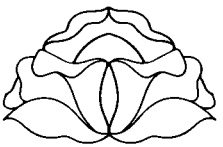

भूत और भविष्य से मुक्त आज का आनन्द

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक को शनैः-शनैः निश्चलता, नीरवता, शान्ति, स्थिरता और एकाग्रता की ओर ले जाते हैं। परिवर्तन की यह प्रक्रिया सुखद, शुभप्रद और आश्चर्यजनक है। जो योग साधना से अन्तर्यात्रा के विज्ञान से दूर हैं, इससे अछूते हैं वे इस बात को ढंग से समझ नहीं सकते क्योंकि उनकी सामान्य मानसिक अवस्था, चंचलता, अस्थिरता, कलह, क्लेश से घिरी रहती है। विचारों के द्वन्द्व, भावनाओं के विक्षोभ उन्हें सब ओर से घेरे रहते हैं। वे यह सोच भी नहीं पाते कि इनसे उबरने का, इससे पार जाने का कोई उपाय हो भी सकता है? ऐसे लोगों के लिए मानसिक, भावनात्मक रूप से अर्धविक्षिप्त स्थिति एक बड़ी सामान्य सी घटना है। इस स्थिति को बदलने की बात न तो वे सोच पाते हैं और न ही इसे सम्भव मानते हैं।

इन्हीं में से कई लोगों ने आधुनिक मनोविज्ञान से सम्बन्धित कई अन्वेषण किए हैं। इन अन्वेषणों एवं अन्वेषकों की सुने तो ये बड़े विचित्र हैं, हालांकि इन्हें वैज्ञानिक कहा जाता है। ऐसे अनुसन्धानकर्त्ताओं का कहना है कि ईसा मसीह मानसिक रोगी थे, क्योंकि वे परमात्मा की आवाज सुन सकते थे। इसी तरह का कुछ पैगम्बर मोहम्मद के बारे में भी कहा गया है। इनका कहना है कि उन्होंने अवश्य बेहोशी में कुरान की आयतें सुनी होंगी। ऐसा इसलिए कहा गया, सोचा गया और बताया गया क्योंकि इन अन्वेषकों और अनुसन्धानकर्त्ताओं ने

विक्षिप्तता, द्वन्द्व और विक्षोभ को सहज और स्वाभाविक मान लिया है। लेकिन सत्य इसके अतिरिक्त भी है। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों द्वारा उसे अनुभव किया जा सकता है।

इसके बाद न केवल मनोदशा और मानसिक अवस्था बदलती है बल्कि जीवन के अनुभवों में भी व्यापक बदलाव हो जाता है। विश्व भर के सन्तों, महर्षियों, योगियों एवं आप्तजनों ने अपने में ऐसा कुछ बदलाव करके दिव्य अनुभूतियाँ पायी थीं। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग ऐसे अनुभवों को सहज व सुलभ बना देते हैं। इस योगकथा में बताया गया है कि सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने वाली वृत्ति का क्षय हो जाना और किसी एक ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली अवस्था का उदय हो जाना समाधि परिणाम है। दरअसल यह समाधि परिणाम वह आन्तरिक रूपान्तरण है, जहाँ चित्त को तोड़ने वाली अशान्तवृत्तियों का क्रमिक ठहराव आ जाता है और साथ ही एकाग्रता उदय होती है।

इस एकाग्रता को और अधिक ढंग से सुस्पष्ट महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में किया है-

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः॥ ३/१२॥

शब्दार्थ= ततः= उसके बाद; पुनः= फिर जब; शान्तोदितौ= शान्त होने वाली और उदय होने वाली; तुल्यप्रत्ययौ= दोनों ही वृत्तियाँ एक सी हो जाती हैं; तब वह; चित्तस्य= चित्त का; एकाग्रतापरिणामः= एकाग्रता परिणाम है।

भावार्थ= एकाग्रता परिणाम चित्त का ऐसा अनूठा एकाग्र रूपान्तरण है, चित्त की ऐसी भावदशा है, जहाँ चित्त का विचार विषय जो कि शान्त हो रहा होता है, वह अगले ही क्षण ठीक वैसे ही विचार विषय से जुड़ जाता है। यह सिलसिला चलता रहता है।

यह अवस्था असाधारण रूप से अनूठी है साथ ही अति विरल भी। आमतौर पर होता ठीक इसके विपरीत है। जब एक विचार जा रहा होता है, तब उसकी जगह एक सर्वथा नया विचार आ रहा होता है। उदासी जाती है तो प्रसन्नता आ जाती है। प्रसन्नता विदा लेती है तो निराशा घेर लेती है। जब निराशा के क्षण बीतने लगते हैं तो तत्काल क्रोध का आगमन हो जाता है। यह क्रोध जब

प्रस्थान करता है तो फिर से अवसाद की छाया छाने लगती है। कुछ यही स्थिति होती है चित्त की। इतना ही नहीं यह तो आस-पास के बदलते वातावरण के साथ भी बदलता रहता है। यह बदलाव इतनी तेजी से और इतने विचित्र ढंग से होता है कि खुद को ही पता नहीं चल पाता कि हम आखिर हैं कौन? सुबह गुस्सा कर रहे थे, लेकिन दोपहर भोजन के समय खुश थे। फिर अचानक सांझ उतरते-उतरते अवसाद ने घेर लिया। ये सभी बदलाव इतनी तेजी से होते हैं कि स्वयं का पता ही नहीं चल पाता।

कई बार तो ऐसा लगता है हमसे अधिक खुश तो वन के पशु-पक्षी हैं। वे सब नन्हें नटखट प्राणी हैं, जिन्हें हम क्षुद्र कहकर तिरस्कार कर देते हैं। परम पूज्य गुरुदेव ने अपनी हिमालय यात्रा के प्रसंग की चर्चा करते हुए एक आध्यात्मिक वार्ता में कहा था कि जब वह नन्दन वन में थे, तब एक सुबह सुहानी धूप निकली। गुरुदेव ने देखा पर्वत की एक चट्टान पर एक गिलहरी बड़ी प्रसन्न होकर धूप का आनन्द ले रही है। वह उससे बातें करने लगे- अरे गिलहरी! तुम्हारा दिल खुशी से धड़क रहा है। चारों ओर धूप खिली हुई है। और तुम प्रसन्न हो। फिर क्षण भर बाद वह स्वयं ही बोले- लेकिन धरती के मनुष्य तुम्हारी तरह प्रसन्न क्यों नहीं है?

वह वहीं पर खड़े होकर सोचने लगे, जब सारी सृष्टि सब तरफ उत्सव मना रही है, ऐसे में मनुष्य आनन्दित क्यों नहीं है? मनुष्य के अतिरिक्त पेड़-पौधे, जीव-जन्तु हर कोई स्वयं के साथ और सम्पूर्ण अस्तित्त्व के साथ बहुत सुन्दर ढंग से जुड़ा हुआ है। मनुष्य ही आखिर अपवाद क्यों है? आखिर उस पर कौन सी विपदा टूट पड़ी है? उनके ये सवाल महत्त्वपूर्ण थे। इसके जवाब उन्होंने स्वयं खोजे और कहा- गिलहरी अतीत और भविष्य की सभी चिन्ताओं से मुक्त है। वह तो बस वर्तमान में है। अभी और यहीं बड़े मजे से धूप का आनन्द ले रही है। लेकिन मनुष्य को यह सामान्य समझ नहीं है इसीलिए वह रोगी है। अतीत और भविष्य की सभी चिन्ताएँ, विचारों के द्वन्द्व, भावनाओं के विक्षोभ उसे खाए जा रहे हैं।

परम पूज्य गुरुदेव ने अपनी इस अनुभव कथा का समापन करते हुए कहा- गिलहरी चट्टान पर बैठकर धूप का आनन्द बड़े मजे से लेती रही। ऐसा इसलिए क्योंकि उसने वर्तमान के क्षण में जीना सीख लिया। ठीक इसी तरह से ध्यानी भी

अतीत व भविष्य की सभी चिन्ताओं से मुक्त होकर वर्तमान में जीता है। वर्तमान में जीने का अर्थ है विचारों से मुक्त हो जाना। क्योंकि विचार या तो अतीत से जुड़े होते हैं अथवा भविष्य से। विचार या तो अतीत की स्मृति का हिस्सा होता है अथवा भविष्य की कल्पना का। इन दोनों से जब भी, जहाँ भी मुक्त हुआ जा सके, वहीं उसी क्षण एकाग्रता प्रकट हो जाती है।

एकाग्रता परिणाम चित्त, चिन्तन एवं चेतना की वह अवस्था है, जहाँ भावों का, विचारों का क्षण-क्षण बदलना समाप्त हो जाता है। चित्त स्वत: ही एकाग्र हो जाता है। इतना ही नहीं अगर योग साधक किसी एक अवस्था में रहना चाहे तो वह रह सकता है। अगर कोई प्रसन्न रहने का इच्छुक है तो वह प्रसन्न रह सकता है। और तब वह प्रसन्नता बढ़ती चली जाती है क्योंकि ऐसी अवस्था में स्मृतियाँ अथवा कल्पनाएँ बाधाएँ नहीं बनती। इस अवस्था में व्यक्ति स्वयं का मालिक, अपना स्वामी हो जाता है। यह एकाग्रता परिणाम चेतना की सबसे मौलिक एवं आधारभूत आवश्यकता है। यह प्राप्त होने पर अपना स्वयं का अस्तित्त्व जीवन्त हो उठता है। अगर कोई हमेशा परिवर्तित होता रहे तो फिर अस्तित्त्ववान होने की कोई सम्भावना नहीं है। आज यह, कल वह। लेकिन अस्तित्त्ववान होने का सहज अनुभव एकाग्रता परिणाम में स्वत: ही हो जाता है। वर्तमान के क्षण में स्थिरता इसका प्रवेश द्वार बनती है।

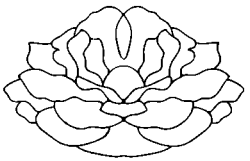

हर पल परिवर्तन का नाम है - प्रकृति

अन्तर्यात्रा विज्ञान सचमुच ही एक रहस्यमय यात्रा का विज्ञान है। यह यात्रा आन्तरिक है, इसमें रहस्यमयता गहरी होने के साथ रोमांच भी बहुत है। संसार में अनेकों लोग ऐसे हैं, जो रहस्य व रोमांच के लिए ऊँचे पर्वतों की चढ़ाई करते हैं, घोर घने जंगलों में खतरनाक वन्य पशुओं के बीच भटकते हैं। इन्हीं में से कुछ समुद्र की अतल गहराइयों में गोताखोरी करते हैं। कई लोग ध्रुव प्रदेशों के बर्फीले बवण्डरों के बीच घूमते हैं। ये सभी प्रयास ऐसे हैं, जिनकी चर्चा करने और सुनने भर से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। हालांकि ये सभी प्रयत्न बाहरी हैं। इन सब प्रयत्नों के बल पर होने वाली यात्रा और उससे मिलने वाले अनुभव भी बाहरी हैं। इनका अन्तर्जगत की आन्तरिकता से कुछ लेना-देना नहीं है।

ऐसा होने पर भी बाह्य जगत् की ऐसी यात्राओं व अन्तर्जगत की आन्तरिक यात्राओं में एक सम्बन्ध तो है ही और वह सम्बन्ध है रहस्यमयता व रोमांच का। अन्तर्यात्रा का रहस्यमय रोमांच बाह्य जगत् की सभी मुश्किल, जटिल व कठिन यात्राओं से भी कहीं अधिक कठिन है क्योंकि यहाँ साथी, सहयोगी एवं मार्गदर्शक की भूमिका केवल सद्गुरु व परमेश्वर पूरी करते हैं। ऐसा करते हुए भी वे सदा अदृश्य रहते हैं। जबकि बाहरी जगत् की कठिन यात्राओं में अपने साथी, सहयोगियों की उपस्थिति प्रत्यक्ष में अनुभव की जा सकती है। ऐसी

अनूठी अन्तर्यात्रा जो करते हैं अथवा कर रहे हैं, उन्हें इस सच का सदा अनुभव होता रहता है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान में योगयात्रा की अनेकों विचित्रताओं के साथ इसके भिन्न-भिन्न यात्रा पड़ावों का उल्लेख किया गया है। निरोध परिणाम, समाधि परिणाम और एकाग्रता परिणाम यही वे पड़ाव हैं। इनकी अनुभूति योग साधक को यह बताती, जताती और सिखाती है कि वह अभी अपनी अन्तर्यात्रा पथ पर किस स्थिति में है। योग साधक की स्थिति जैसी और जहाँ होती है उसी के अनुसार उसमें रूपान्तरण के प्रभाव घटित होते हैं। उसके अपने जीवन व चेतना की भावदशा परिवर्तित होती है। ये सभी अनुभव जब भी जिसके भी जीवन में घटित होते हैं, सर्वथा अपूर्व रहस्यमयता व रोमांच को प्रकाशित व परिभाषित करते हैं।

एकाग्रता परिणाम चित्त का ऐसा अनूठा एकाग्र रूपान्तरण है, चित्त की ऐसी भावदशा है, जहाँ चित्त का विचार विषय जो कि शान्त हो रहा होता है, वह अगले ही क्षण ठीक वैसे ही विचार विषय से जुड़ जाता है और यह सिलसिला यूं ही चलता रहता है। इस एकाग्रता के साथ चित्त-चिन्तन और चेतना में अनेकों परिवर्तन घटित होते हैं। जीवन में बदलाव आ जाता है। जो पहले कभी था, उसकी जगह नयी भावदशा ले लेती है। सर्वथा नयी अवस्था प्रकट होती है। इस अनूठे रूपान्तरण, बदलाव अथवा परिवर्तन के मुख्य बिन्दु क्या हैं, इसे अगले सूत्र में महर्षि पतंजलि ने प्रकट किया है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्था परिणामा- व्याख्याताः ॥ ३/१३ ॥

शब्दार्थ= ऐतेन (ऊपर जो चित्त के परिणाम बताए जा चुके हैं) इसी से; भूतेन्द्रियेषु= पाँचों भूतों में और सब इन्द्रियों में होने वाले; धर्मलक्षणावस्था परिणामाः= धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम (ये तीनों परिणाम); व्याख्याताः= कहे जा चुके।

भावार्थ= जो कुछ भी इन पहले के सूत्रों में कहा गया है, उसके द्वारा मूलतत्त्वों और इन्द्रियों की विशिष्टताओं, उनके गुण, धर्म और उनकी अवस्थाओं के रूपान्तरणों की व्याख्या भी हो जाती है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र कई अर्थों में अनूठा है। इसमें इस सच का संकेत और संदेश है कि जहाँ तक प्रकृति है वहाँ तक परिवर्तन है। अपने आस-

पास जो भी है बदल रहा है। संसार बदल रहा है तो अपना शरीर भी बदल रहा है। इन्द्रियाँ बदल रही हैं, मन बदल रहा है, जो भी है सब कुछ बदल रहा है। अगर हम भी इनके साथ बदल रहे हैं, तो फिर अपरिवर्तनीय को, शाश्वत को खोजने की कोई सम्भावना नहीं बचती। प्रकृति, परिवेश व परिस्थिति में परिवर्तन का सच खुली आँखों से देखा जा सकता है। संसार में निरन्तर परिवर्तन है। यह बड़ी तीव्रता व तत्परता से घटित हो रहा है। उसमें ठहराव जैसा कुछ भी नहीं है, है तो सिर्फ बदलाव।

संसार का परिवर्तित होते जाना एक स्पष्ट सच है। यह सब कुछ ऐसा है जैसे कि परिवर्तन के अनवरत प्रवाह में सब कुछ बहा जा रहा है। संसार की प्रकृति कुछ ऐसी है। यदि यहाँ कुछ स्थायी है तो वह है स्वयं बदलाव-परिवर्तन। इसके सिवा सभी कुछ बदल रहा है, परिवर्तित हो रहा है। शरीर बदल रहा है, उसकी कोशिकाएँ, प्रवाहित होने वाला रक्त बदल रहा है। आगे बढ़ने के साथ शरीर की आयु बढ़ रही है, शरीर भी आगे बढ़ रहा है। अगर ऐसा न हो तो इन्सान वृद्ध कैसे होगा, युवा कैसे होगा ? या कोई यह बता सकता है कि कब बालक युवा में परिवर्तित हो गया और युवा वृद्ध में बदल गया ? सचमुच यह बताना कठिन है। अगर किसी चिकित्सक से यह पूछा जाय तो शायद उन्हें भी यह स्पष्ट नहीं होगा कि ठीक-ठीक किस समय पता चलता है कि कोई आदमी अभी जीवित था और थोड़ी देर में मर गया। इसकी परिभाषा अभी भी स्पष्ट नहीं है। क्योंकि जीवन तो एक प्रक्रिया है, गतिमयता है। सच्चाई यही है कि किसी इन्सान के मरने के बाद, उसके अपने परिजन, रिश्तेदार भले ही उसके पास से हट जाय तो भी शरीर में थोड़ी बहुत प्रक्रिया जारी रहती है। नाखूनों का बढ़ना, बालों का बढ़ना जारी रहता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि शरीर का कोई हिस्सा अभी जीवित और विकासमान रहता है।

महान् चिकित्सकों को भी यह बात पूरी समझ में नहीं आ पायी है कि कब किसी व्यक्ति को पूरी तरह मृत घोषित किया जाय। सच कहें तो जीवन एवं मृत्यु की कोई सम्पूर्ण व सटीक परिभाषा नहीं है। क्योंकि शरीर एक प्रवाह है, इसी तरह मन भी एक प्रवाह है। दोनों परिवर्तित हो रहे हैं, हर क्षण दोनों बदल रहे हैं।

इस बदलाव में, परिवर्तन की ऐसी निरन्तरता में यदि हम भी निरन्तर परिवर्तित हो रहे हैं, तो सत्य, परमात्मा व आनन्द की खोज पूरी नहीं होगी। इस

खोज में केवल निराशा हाथ लगेगी। ऐसे में परिवर्तन के प्रवाह में यदि अपरिवर्तनीय की खोज करनी है, तो विचारों के अन्तराल में गोता लगाना पड़ेगा। निरोध परिणाम, समाधि परिणाम व एकाग्रता परिणाम को द्वार बनाना पड़ेगा। ऐसा होने पर ही उस शाश्वत से साक्षात्कार हो पाएगा, जिसका न कोई प्रारम्भ है और न अन्त। जो सदा ही अपरिवर्तनीय व स्थिर है। धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम जिसे प्रभावित नहीं करते।

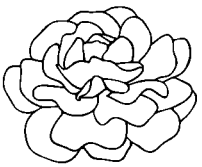

निराकार से एकाकार होने का विज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक में परिवर्तन की प्रक्रिया घटित करते हैं। यह परिवर्तन सूक्ष्म, व्यापक एवं आन्तरिक होता है। इसकी प्रक्रिया होती तो क्रमिक है, पर इसके परिणाम प्रभावशाली व प्रकाशपूर्ण होते हैं। बाहरी जीवन भी इसके प्रभाव के दायरे में आए बिना नहीं रहता। पुरातन अतीत से नूतन वर्तमान योग के सभी साधकों ने अपनी साधना के अनुरूप इस सत्य का अनुभव किया है। **योग अनुशासनम्** का संकल्प लेने वाले साधक व्यवहार, विचार एवं संस्कार की आधारभूत संरचना को परिवर्तित करते हुए अन्ततः चित्त की अवस्था को परिवर्तित करने में सफल रहते हैं। शनैः-शनैः उनमें होने वाला यह परिवर्तन अन्ततोगत्वा उनमें एक आश्चर्यजनक रूपान्तरण को जन्म देता है।

इस योगकथा में बताया गया है कि जहाँ तक प्रकृति है, वहाँ तक परिवर्तन है। बस केवल पुरुष ही इससे अछूता है। वह सभी अवस्थाओं में शाश्वत्, सनातन व अपरिवर्तनीय है। प्रकृति में अथवा श्रीमद्भगवद्गीता की भाषा में कहें तो क्षेत्र में, योग की शब्दावली का प्रयोग करें तो चित्त में इस परिवर्तन का स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है। महर्षि पतंजलि इसकी १. धर्म परिणाम, २. लक्षण परिणाम, एवं ३. अवस्था परिणाम के रूप में व्याख्या करते हैं।

इस योगकथा के आगे का सच समझने के लिए इन तीनों को समझ लेना जरूरी है। इसमें सबसे पहला है- १. धर्म परिणाम- जब किसी धर्मी में एक

धर्म का लय होकर दूसरे धर्म का उदय होता है, तो इसे धर्म परिणाम कहा जाता है। जैसे नवें सूत्र में निरोध परिणाम की चर्चा की गयी है। इस प्रक्रिया में चित्त धर्मी है। उसमें निरोध परिणाम तब होता है जब इसका व्युत्थान संस्कार रूपी धर्म लय होता है और निरोध संस्कार रूप धर्म प्रकट होता है। इस बात को और भी सरल भाषा में समझें तो जैसे मिट्टी धर्मी है, जब इसके पिण्ड से घड़े का निर्माण किया जाता है, तो मिट्टी में पिण्ड रूपी धर्म का लय होकर घट रूपी धर्म प्रकट होता है। इस तरह का परिवर्तन धर्म परिणाम है।

इसी के साथ २. लक्षण परिणाम घटित होता है। यह लक्षण परिणाम धर्म में होता है। वर्तमान धर्म का लुप्त होना उसका अतीत लक्षण परिणाम है, अनागत धर्म का प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण परिणाम है और प्रकट होने से पहले वह अनागत लक्षण वाला रहता है। इन तीनों को धर्म का लक्षण परिणाम कहते हैं। इसके पहले के ग्यारहवें सूत्र में जो चित्त के सर्वार्थता धर्म (सब तरह के विषयों को चिन्तन करने वाली वृत्ति) का क्षय होना बताया गया है, वह उसका अतीत लक्षण परिणाम है और जो एकाग्रता रूप धर्म का उदय होना बतलाया है, वह उसका वर्तमान लक्षण परिणाम है। उदय होने से पहले यह एकाग्रता धर्म अनागत लक्षण परिणाम के रूप में था।

इसके बाद ३. अवस्था परिणाम है। जो वर्तमान लक्षण युक्त धर्म में नयापन से पुरानपन आता-जाता है। वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है और वर्तमान लक्षण को छोड़कर अतीत लक्षण में चला जाता है। यह लक्षण का अवस्था परिणाम है। ग्यारहवें सूत्र के विवरण के अनुसार जब चित्तरूप धर्मों का वर्तमान लक्षण वाला सर्वार्थता रूप धर्म दबकर अतीत लक्षण को प्राप्त होता है, उस वर्तमान काल में जो उसके उबने का क्रम है, वह उसका अवस्था परिणाम है। इसी तरह जो एकाग्रता रूपधर्म अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में आता है, तब उसका जो उदय होने का क्रम है, वह भी अवस्था परिणाम है। इस प्रकार एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में परिवर्तन होते जाना ही अवस्था परिणाम है। यह अवस्था परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है। बचपन से जवानी और जवानी से बुढ़ापा एक क्षण में नहीं आते। हमारा यह अवस्था परिणाम अर्थात् अवस्था का परिवर्तन प्रतिक्षण में होता हुआ ही अपने परिणाम तक पहुँचता है। यही अवस्था परिणाम है।

इन तीनों को संक्षेप में कहें तो धर्म परिणाम में धर्मों के धर्म में परिवर्तन होता है, लक्षण परिणाम में पहले धर्म का अतीत हो जाना और नए धर्म का वर्तमान हो जाना, इस प्रकार धर्म का लक्षण बदलता है और अवस्था परिणाम में धर्म के वर्तमान लक्षण ये युक्त रहते हुए ही उसकी अवस्था बदलती रहती है। इस तरह पहले परिणाम की अपेक्षा दूसरा सूक्ष्म है और दूसरे की अपेक्षा तीसरा सूक्ष्म है।

इस विवेचना के बाद महर्षि पतंजलि ने धर्मों का स्वरूप स्पष्ट किया है-

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपातीधर्मी ॥३/१४॥

शब्दार्थ= शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती= अतीत, वर्तमान और आने वाले धर्मों में जो सदा व्याप्त रहता है, (आधार रूप में विद्यमान रहता है) वह; धर्मी= धर्मी है।

भावार्थ= चाहे वे सुप्त हों या सक्रिय हों या अव्यक्त हों, सारे गुण धर्म आधार तत्त्व अर्थात् धर्मी में विद्यमान (अन्तर्निहित) रहते हैं।

महर्षि पतंजलि इस सूत्र में अद्भुत बात कहते हैं। उनके अनुसार चाहे फूल खिला हुआ हो या फिर मुरझाया हो, उसमें कुछ भी भेद नहीं होता। क्योंकि जब फूल खिला हुआ होता है तो उसके मुरझा जाने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और जब फूल वृक्ष की डाली से टूटकर गिर जाता है तो वह फिर से खिलने की तैयारी में लग जाता है। इस तरह प्रकृति में सृजन के साथ ध्वंस की प्रक्रिया भी निरन्तर चलती रहती है। दरअसल प्रकृति से ही सभी कुछ अभिव्यक्त होता है और फिर प्रकृति में ही वापस चला जाता है। सुप्त हो या सक्रिय अथवा फिर व्यक्त हो या अव्यक्त, उसे अभिव्यक्ति में आने के लिए प्रकृति में ही तैयार होना होता है। गर्मी आती है, चली जाती है, वर्षा आती है चली जाती है, इसी तरह से चक्र घूमता रहता है। प्रकृति में सभी कुछ विद्यमान है और गतिमान भी। फूल खिलते हैं, मुरझा जाते हैं, बदल जाते हैं, चले जाते हैं, संसार का चक्र तब भी गतिमान रहता है।

हर चीज की दो अवस्थाएँ हैं- व्यक्त और अव्यक्त। केवल योगी, योग साधक सदा ही उन दोनों के पार है। वह न तो व्यक्त है और न ही अव्यक्त, वह तो सदा साक्षी है। निरोध परिणाम के क्षण में दो विचारों के अन्तराल के समय उसकी पहली झलक मिलती है। फिर जब अभ्यास से उन विचारों का अन्तराल बढ़ता है, शून्यता बढ़ती है, तो क्रमशः समाधि परिणाम, एकाग्रता परिणाम

प्रकट होते हैं। समाधि की अवस्था में मन विदा होने लगता है और फिर अन्त में वह मिट जाता है और तब प्रकट होती है एकाग्रता।

तब पहली बार योग साधक प्रकृति की सृजन-असृजन की लीला, मन में उठती हुई तरंगों, लहरों, जीवन के सुख-दुःख, मन के क्षण-क्षण बदलते भावों और जीवन की क्षण भंगुरता के पार जाता है। तब उसे मिलती है, स्वयं की झलक। उसके व्यक्तित्व में साक्षी होने का भाव जगता है, जो वह स्वयं ही होता है। इस योग साधना में जितना स्वयं की गहराई में उतरना होता है उतना ही अनुभव होता है कि परमात्मा अनेक-अनेक रूपों से, संसार में अनेक-अनेक माध्यमों से वापस आ रहा होता है। उसी बीच स्वयं का भी परमात्मा से मिलना हो जाता है, तब सिद्ध हो जाता है योग। परमेश्वर से एकाकार होने की अनुभूति।

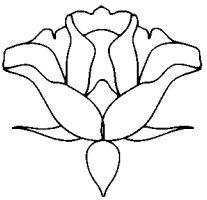

योग विधियों से घटते हैं चित्त की भूमि में चमत्कार

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग क्रम के अनुरूप अपना परिणाम प्रस्तुत करते हैं। इसमें महत्त्व उस चित्त भूमि का भी होता है, जहाँ पर ये प्रयोग किए जाने हैं अथवा किए जा रहे हैं। योग साधना के लिए केवल योग की विधियाँ, तकनीकें अथवा प्रक्रियाएँ ही महत्त्वपूर्ण नहीं होतीं इनके अलावा और भी बहुत कुछ है जो समान रूप से उत्तरदायी और महत्त्वपूर्ण होता है। जो साधना के परिणाम हैं, वह सभी के जोड़ के अनुरूप होते हैं। कोई एक कारण इसके लिए अकेला उत्तरदायी नहीं होता, भले ही उसका महत्त्व कितना ही क्यों न हो ? साधना में सभी तत्त्व, सभी तथ्य एवं सभी सत्य मिलकर अपना परिणाम प्रस्तुत करते हैं। इसलिए परिणाम की सही व्याख्या के लिए सभी का सम्यक् ज्ञान और उनकी विवेचना जरूरी है।

यदि इस पर चिन्तन गहन करें, तो योग साधना का पहला महत्त्वपूर्ण तथ्य है योग साधक, उसका व्यक्तित्व, उसका दृष्टिकोण और उसकी चित्तभूमि। किन संस्कारों व कर्मों को लेकर उसका जन्म हुआ है, उसके पिछले जन्मों की पृष्ठभूमि क्या है ? उसकी चित्तवृत्तियाँ और चित्तभूमि कैसी हैं ? आदि बातें साधना का परिणाम तय करती हैं। व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के अनुरूप ही साधना मार्ग एवं साधना क्रम का चयन करना होता है। जिसकी पृष्ठभूमि तंत्र की है उसे तंत्र की क्रियाएँ शीघ्र परिणामदायी सिद्ध होगी। इसी प्रकार योग, ज्ञान,

भक्ति एवं कर्म मार्ग के विषय में विचार करना पड़ता है। इसके बाद महत्त्वपूर्ण है साधना की प्रक्रियाएँ और उनका क्रम। योग साधक के व्यक्तित्व के अनुरूप ही इनका चयन और क्रम निर्धारण किया जाना चाहिए। तत्पश्चात् महत्त्वपूर्ण है उपयुक्त वातावरण का चयन। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक वातावरण अपने गुणों के अनुसार साधना प्रक्रियाओं का सहयोग अथवा विरोध करते हैं।

इन सभी बातों की सामान्य एवं विशेष चर्चा पिछले सूत्रों के विषय के अनुरूप की जाती रही है। चाहे वे सुप्त हों या सक्रिय या फिर अव्वल हों, सारे गुण धर्म आधार तत्त्व अर्थात् धर्मी में विद्यमान रहते हैं। उदाहरण के लिए दूध को आधार भूत या धर्मी माने तो इसके अन्दर स्वत: ही दही, मट्ठा, मक्खन या फिर घी स्वाभाविक विद्यमान हैं। हाँ ये सुप्त हो सकते हैं अथवा इनमें से कोई सक्रिय अथवा अव्यक्त भी हो सकता है। लेकिन यदि इन्हें व्यक्त करना है तो दूध को उचित प्रक्रियाओं या विधियों से गुजरना ही पड़ता है। विधि का चयन परिणाम को ध्यान में रखकर किया जाता है। ठीक यही बात चित्तभूमि के बारे में है। चित्तभूमि में सभी कुछ है, भले ही वह सुप्त हो अथवा सक्रिय या फिर अव्यक्त। योग साधनाओं का समुचित साधन इसमें निहित आध्यात्मिक विशेषताओं व विभूतियों को प्रकट करने में सहायक बनता है।

योग साधन किस तरह से करने से क्या होता है ? इसके क्रम व परिणाम के सम्बन्ध में महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं-

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥३/१५॥

शब्दार्थ= परिणामान्यत्वे= परिणाम की भिन्नता में, क्रमान्यत्वम्= क्रम की भिन्नता, हेतु:= कारण है।

भावार्थ= आधारभूत प्रक्रिया में छिपी अनेकरूपता द्वारा रूपान्तरण में कई परिवर्तन घटित होते हैं।

चर्चा जब अध्यात्म की चलती है, तो सहज ही कई तरह के चमत्कारों की बात उठ खड़ी होती है। पर यथार्थ में प्रकृति में कहीं कोई चमत्कार घटित ही नहीं होता। जहाँ तक प्रकृति का विस्तार है, फिर इसका कोई भी पहलू या आयाम क्यों न हो, स्थूल हो या फिर सूक्ष्म, सभी कुछ कार्य, कारण के सत्य से बंधा हुआ है। इसी से संचालित या परिचालित होता है। जिन्हें हम चमत्कार कहते हैं, उनके पीछे एक प्रक्रिया होती है और ये उसी के परिणाम के रूप में

घटित होते हैं। सामान्य जीवन में यही तथ्य लागू होता है, जिन्हें संयोग या अचानक-अकस्मात कहते हैं वह सब कुछ कर्मानुसार ही घटित होता है। इसलिए जो परिणाम में परिवर्तन करना चाहते हैं उन्हें अपने कार्य और कर्म में परिवर्तन करना चाहिए।

क्रम बदलने पर परिणाम का बदलना सामान्य जीवन में अनुभव किया जाने वाला सच है। कई बार इसे जीवन में देखा और जाना जा सकता है। अगर बात ईंटों की करें तो ईंटों के क्रम और मात्रा के परिवर्तन से बड़े-बड़े आलीशान भवन तैयार हो सकते हैं और गरीब की कुटिया भी। ईंटें वही होती हैं, जमीन भी वही होती है, बस मात्रा व क्रम का परिवर्तन है। इस परिवर्तन से परिणाम के अनेकों रूप बदले जा सकते हैं। क्रम व मात्रा बदलने से गरीब की कुटिया राजाओं का आलीशान महल बन सकती है और राजाओं का आलीशान महल ईंटों के क्रम एवं मात्रा के परिवर्तन से गरीब की कुटिया में परिवर्तित हो सकता है।

इस सम्बन्ध में एक सच घटना का उल्लेख करने का मन है। बात है तो अविश्वसनीय परन्तु इतने पर भी यह है सौ फीसदी का सच। एक अघोरी साधक था, कुछ दशक पहले उससे जब-तब मुलाकात हो जाती थी। वह जब भी मिलता बड़ी विचित्र-विलक्षण बातें करता था। मिष्ठान्न का मिट्टी में और मिट्टी का मिष्ठान्न में परिवर्तन करना उसके लिए जैसे बाएँ हाथ का खेल था। मिट्टी का टुकड़ा गुलाब जामुन उसके हाथों से पता नहीं कैसे बन जाता था। कोई सम्मोहन नहीं, कोई जादू नहीं, क्योंकि वह गुलाब जामुन तो उसके जाने के बाद कई दिनों तक यथावत बना रहता था। मजे की बात उसमें गुलाब की खुशबू भी आती रहती। अघोरी इसे चमत्कार नहीं प्रकृति का विज्ञान कहता था।

एक दिन उससे जब बहुत पूछा तो उसने प्रश्न के उत्तर में प्रश्न किया- तुम रसायन विज्ञान पढ़ते हो, तो जरा यह बताओ कि लोहा लोहा क्यों है ? और सोना सोना क्यों है ? प्रश्न बड़ा सटीक था, उसे उत्तर दिया गया कि यह सब उसकी आणविक संरचना और इलेक्ट्रॉन की क्रम एवं गति के कारण है। इस उत्तर से वह थोड़ा सन्तुष्ट हुआ और फिर उसने अपना अगला सवाल पूछा- अब बताओ कि यदि इनकी आणविक संरचना बदल जाय, इनके इलेक्ट्रान का क्रम व गति परिवर्तित हो जाय तो ? उत्तर में कहा गया तब ऐसे में लोहा सोना बन सकता है और सोना लोहा।

इस उत्तर के मिलने के बाद उसने समझाया, जो तुमने रसायन विज्ञान का सच बताया वह केवल लोहे और सोने तक सीमित नहीं है। जहाँ तक प्रकृति है, जहाँ तक सृष्टि का विस्तार है, वहाँ तक यही सच फैला हुआ है। क्रम और गति के परिवर्तन से प्रकृति में अलग-अलग वस्तुओं, विभिन्नताओं की सृष्टि हुई है। जीवित एवं निर्जीव प्राणियों एवं पदार्थों का सारा भेद इसी कारण है। इस परिवर्तन से ही एक का दूसरे में रूपान्तरण होता है। मिट्टी का मिष्ठान्न में परिवर्तन मैं इस विधि से करता हूँ। मेरे संकल्प से उनकी आणविक संरचना परिवर्तित हो जाती है।

इतना कहने के बाद उसने कहा- योग की प्रक्रियाएँ, तप के विधान इसी तरह के परिवर्तन सूक्ष्म प्रकृति में, चित्तभूमि में करते हैं। इनका सही ढंग से सही क्रम से अभ्यास हो तो बड़ी आसानी से जीवन परिवर्तित हो सकता है। सतत् परिवर्तनशील प्रकृति में कुछ भी परिणाम पाना असम्भव नहीं है। बस इसके लिए साधना का बल चाहिए। उचित साधना, उचित क्रम एवं उचित वातावरण से समयानुसार इच्छित परिणाम पाए जा सकते हैं। यहाँ तक कि त्रिगुणमयी प्रकृति के पार भी जाया जा सकता है और प्रकृति के पार स्वयं के स्वरूप में प्रतिष्ठित भी हुआ जा सकता है।

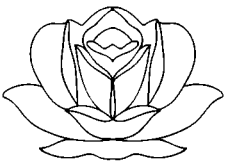

कैसे होता है भूत और भविष्य का ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अनुभव करना सिखाते हैं। इनमें से प्रत्येक सूत्र में यह स्पष्ट संकेत और सन्देश है कि यह अनुभव करने की प्रामाणिक विधि है। इन्हें अनुभव के निष्कर्ष के रूप में कहा गया है। कोई इन पर विश्वास करे या न करे, उसकी आस्था हो या न हो लेकिन यदि वह बतायी हुई विधि को पूरा करेगा तो उसे अनुभव होगा अवश्य। यही बात इसके वैज्ञानिक आधार को पुष्ट करती है। यह बात उतनी ही स्पष्ट और प्रामाणिक है जितनी की अग्नि की दाहकता अथवा बर्फ की शीतलता। इसके लिए किसी विश्वास की जरूरत नहीं है। कोई भी जो अग्नि के समीप या बर्फ के निकट जाएगा उसकी दाहकता या शीतलता से परिचित होगा ही। एक निर्धारित समय सीमा के बाद उसमें जलने या गलने के लक्षण आने लगेंगे। यह बात इतनी सच है कि एक का अनुभव हर एक का अनुभव बनेगा ही। इसमें न तो कोई अपवाद है और न ही विवाद या विसंगति। ठीक यही सत्यता अन्तर्यात्रा विज्ञान के बारे में है। इसके प्रयोग सभी को एक निश्चित विधि के पश्चात् एक निर्धारित अनुभव प्रदान करते हैं। इसमें किसी अपवाद, विवाद या विसंगति की कोई गुंजाइश नहीं है।

परिणाम की भिन्नता में क्रम की भिन्नता कारण है। आधारभूत प्रक्रिया में छिपी अनेकरूपता द्वारा रूपान्तरण में कई परिवर्तन घटित होते हैं। यह बात जितनी बाहरी पदार्थ पर लागू होती है, उतनी ही यह चित्तभूमि और उससे जुड़े

घटनाक्रमों के बारे में सटीक है। मिट्टी वही होती है, कुम्हार का चाक भी वही होता है, लेकिन कुम्हार के हाथों का क्रम और चाक की गति का क्रम भिन्न-भिन्न रूपों और आकारों को प्रकट करता है। कुछ ऐसा ही सच चित्तभूमि के बारे में भी है। यदि इसमें निहित संस्कारों और कर्मराशि के क्रम में फेर-बदल कर दिया जाय तो बाहरी जीवन में घटित होने वाले घटनाक्रम पूरी तरह से बदल जाएँगे। तब फिर जीवन क्रम के बारे में कहे जा रहे- बताए जा रहे ज्योतिषीय आंकलन काम न आ सकेंगे, केवल अन्तर्दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति ही इस परिवर्तित क्रम की सच्चाई जान सकेंगे।

यह तथ्य बताने के पश्चात् महर्षि पतंजलि अपने नए सूत्र में योग साधना सम्पन्न जीवन में नया अनुभव करने की विधि देते हैं-

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥३/१६ ॥

शब्दार्थ= परिणामत्रयसंयमात्= तीनों परिणामों में संयम करने से; अतीतानागतज्ञानम्= अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य) का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= इन तीन प्रकार के रूपान्तरणों में संयम कर लेने से योग साधक को भूत और भविष्य का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है।

इस अनूठे सूत्र में परिणामत्रय और उन पर संयम तथा इस संयम के परिणाम की चर्चा है। योग सूत्र में तीन तरह के परिणाम का दो तरह से उल्लेख हुआ है। पहला उल्लेख है- निरोध परिणाम, समाधि परिणाम एवं एकाग्रता परिणाम के बारे में। दूसरा उल्लेख- धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम के बारे में है। इन दोनों में शब्द भेद तो है पर अर्थ भेद नहीं है। यह कह सकते हैं कि इनमें शब्दान्तर होते हुए भी अर्थान्तर नहीं है। दरअसल निरोध परिणाम ही धर्म परिणाम है, जिसमें व्युत्थान संस्कार का धर्म दबकर निरोध संस्कार रूप धर्म प्रकट होता है। इसी तरह समाधि परिणाम में लक्षण परिणाम के लक्षण प्रकट होते हैं। इसमें सर्वार्थता यानि कि सब तरह के विषयों का चिन्तन करने वाली वृत्ति का लक्षण क्षीण होकर एकाग्रता यानि कि एक ध्येय का चिन्तन करने वाली वृत्ति का लक्षण उदय होता है। अब बारी आती है एकाग्रता परिणाम की, जो यथार्थ में अवस्था परिणाम को दर्शाता है। इसमें चित्त की वृत्तियाँ एक सी हो जाती हैं। चित्तभूमि में एक नयी अवस्था उभरती है।

अब महर्षि पतंजलि कहते हैं, इन तीनों संयम के बारे में। जब योगी निरोध परिणाम पर संयम करता है, तो वह स्वत: ही समाधि परिणाम को प्राप्त होता है। तत्पश्चात् समाधि परिणाम पर किया गया संयम उसे एकाग्रता परिणाम को प्रदान कराता है। चित्तभूमि की यह ऐसी अवस्था है, जहाँ काल में तीनों खण्डों में भेद या विभाजन नहीं रहता। यह काल की एक धारा अखण्ड रूप में सतत् प्रवाहित होती है। यहाँ वर्तमान हो या अतीत अथवा भविष्य, सम्पूर्ण रूप से स्पष्ट होते हैं। ऐसी अवस्था में स्वयं के जीवन की कोई बात हो या फिर औरों के जीवन की कोई बात, यह अतीत से सम्बन्ध रखती हो अथवा फिर भविष्य से, इसे स्पष्ट रूप से सही-सही अनुभव किया जा सकता है। इतना ही नहीं इस अवस्था में अतीत या भविष्य का सम्बन्ध अपने व्यक्तिगत जीवन से या किसी और के व्यक्तिगत जीवन से, यही नहीं यदि इसका सम्बन्ध समष्टिगत या ब्रह्माण्डीय जीवन से है, तो भी बड़ी आसानी से उसका अतीत या भविष्य जाना जा सकता है।

परम पूज्य गुरुदेव इस प्रसंग में चर्चा किया करते थे महात्मा जानकीशरण दास की। ये महात्मा बड़े सीधे-सादे और अनपढ़ थे। चित्रकूट में स्फटिकशिला के पास रहकर साधना करते थे। कोई विशेष क्रियाएँ तो इन्हें आती नहीं थीं। अनपढ़ होने के कारण पुस्तकें न तो इन्होंने पढ़ी थीं और न ही पढ़ सकते थे। बस राम नाम का जप ही इनका साधना सर्वस्व था। हाँ राम का नाम ये जपते बहुत भाव से थे। भाव की प्रगाढ़ता के कारण कब इनका चंचल मन स्थिर हो गया कुछ पता ही न चला। मन स्थिर हुआ तो इतना हुआ कि इन्हें खाने-पीने की सुधि ही भूल गई। आस-पास से रोटियाँ मांग लाते थे और उन्हीं से सप्ताह भर का काम चलाते।

दिन भर में सिर्फ एक बार एक सूखी रोटी, वहीं पास में बह रही पयस्विनी के जल में डुबाकर खा लेते थे। फिर वही जप का क्रम। जप ने उन्हें स्थिरता दी, शान्ति दी। मन में चंचल वृत्तियाँ अपने आप थमने लगीं। निरोध परिणाम, समाधि परिणाम एवं एकाग्रता परिणाम सभी अपने आप सध गए। संयम भी स्वत: सिद्ध हो गया। चित्तभूमि के निर्मल होते ही, संयम के सधते ही उन्हें स्वयं ही सभी बातों का ज्ञान होने लगा। वह जब चाहें जिसके बारे में उसके अतीत व भविष्य के बारे में बताने में सक्षम हो गए थे।

उनका कहना था कि चित्त में इतना प्रकाश है कि उससे सब कुछ प्रकाशित हो जाता है।

कई बार ऐसा हुआ कि उनके पास बड़े-बड़े पण्डित-विद्वान आए। उन्होंने उनकी जिज्ञासा के बड़े सटीक समाधान दिए। यही नहीं उनकी पोथियाँ जो कपड़े की पोटली में बन्द थीं, उनमें किस पृष्ठ पर क्या लिखा है यह बताकर सभी को चकित कर दिया। उनकी ख्याति सुनकर एक रियासत की रानी साहिबा पधारीं। जब वह पधारीं तब उन्होंने बिना उनके कुछ बोले, पहले ही वह सब बता दिया जो वह घर से सोच कर आयीं थीं। बाद में उन्होंने उनके भविष्य के बारे में भी बताया जो सही समय पर सही साबित हुआ। यह सब किस तरह कर पाते हैं ? इस सवाल पर उन्होंने कहा कि अखण्ड के घर में सब कुछ अखण्ड ही है। वहाँ काल के भी खण्ड नहीं हैं। बस जब जो जानना चाहो वह अतीत हो या भविष्य सब पता चल जाता है।

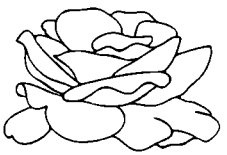

भावों पर संयम से होता है सभी भाषाओं का ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी प्रगाढ़ता व परिपक्वता के अनुरूप योग साधक के अनुभव को क्रमिक रूप से सूक्ष्म व व्यापक बनाते हैं। इस अनुभव के अनुरूप ही मनुष्य को ज्ञान व बोध हो पाता है। जहाँ तक अनुभव के स्वरूप व संरचना की बात है तो इसका निश्चय व निर्धारण व्यक्ति की दृष्टि व उसके दृष्टिकोण के अनुसार होता है। जैसी जिसकी दृष्टि और दृष्टिकोण वैसे ही उसके अनुभव। कई बार देखा जाता है कि दृष्टि के समान होने पर भी अनुभव समान नहीं हो पाते। इस असमानता का कारण बनती है, उस व्यक्ति के दृष्टिकोण की असमानता। ठीक यही बात दृष्टि के बारे में भी है, दृष्टिकोण के समान होने पर भी दृष्टि की असमानता अनुभव को असमान कर देती है। इस चिन्तन क्रम में यह सच है कि दृष्टि के बदलने व विकसित होने पर अनुभव भी बदलते व विकसित होते हैं। इसका जुड़वाँ सच यह भी है कि दृष्टिकोण के बदलने व विकसित होने के क्रमानुरूप अनुभव में बदलाव व विकास होता रहता है।

इस योग कथा में अनुभव के ऐसे ही बदलाव व विकास की चर्चा की गयी है। इसमें बताया गया है कि तीन प्रकार के रूपान्तरणों में संयम कर लेने से योग साधक को भूत व भविष्य का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। जिन रूपान्तरणों की यहाँ चर्चा है वे निरोध परिणाम, समाधि परिणाम एवं एकाग्रता परिणाम हैं। इन्हीं के साथ इसी क्रम में धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम भी

जुड़ गए हैं। इन तीनों रूपान्तरणों के दो समूहों में भेद केवल शब्द का है, अर्थ का नहीं। जब इन रूपान्तरणों की घटना योग साधक के चित्त में घटित व विकसित होती है, तो उसकी चेतना काल के अविभाजित या अखण्ड स्वरूप का साक्षात्कार करने में समर्थ होती है। वह वर्तमान के साथ अतीत व भविष्य को भी समान रूप से देख सकता है, जान सकता है और अनुभव कर सकता है।

इस अनुभव को बताने के पश्चात् महर्षि पतंजलि अपने नए सूत्र में योग साधना के एक सर्वथा नए अनुभव की विधि प्रदान करते हैं-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥३/१७॥

शब्दार्थ= शब्दार्थप्रत्ययानाम्= शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का; इतरेतराध्यासात्= जो एक में दूसरे का अध्यास हो जाने के कारण; संकर= मिश्रण हो रहा है; तत्प्रविभागसंयमात्= उसके विभाग में संयम करने से; सर्वभूतरुतज्ञानम्= सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान (हो जाता है)।

भावार्थ= शब्द, अर्थ और उसमें अन्तर्निहित विचार या भाव, ये सब आपस में मिले-जुले हुए, परस्पर घुल-मिलकर मन में एक साथ चले आते हैं। शब्द पर संयम पा लेने से पृथकता घटित होती है और तब किसी भी प्राणी द्वारा बोली जाने वाली ध्वनियों का व्यापक अर्थबोध घटित होता है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र अतिरोचक और रोमांचकारी है। इस सूत्र से एक बात बड़ी साफ तौर पर समझी जा सकती है कि सारे भेद ऊपरी हैं। इसलिए विवाद भी सतही तौर पर उभरते व पनपते हैं। यदि ऊपरी परतों को पार कर तनिक गहराई में जायें तो सभी से सहज संवाद स्थापित किया जा सकता है। फिर वे चाहे पशु-पक्षी ही क्यों न हों। यहाँ तक कि चेतना के गहरे तल में उतरने पर तो हिंस्र व विषैले जीव-जन्तु भी अपनत्व का संवाद स्थापित करने लग जाते हैं।

इस सूत्र की सटीक व सौन्दर्यपूर्ण व्याख्या जब-तब परम पूज्य गुरुदेव के जीवन क्रम में प्रकट होती रहती थी। घटना आँखों देखी है। गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय था, पूज्य गुरुदेव से मिलने प्रोफेसर लोगों का एक समूह आया था। इनमें से ज्यादातर बाहर के भिन्न-भिन्न देशों से थे। कुछ दक्षिण भारत के अलग-अलग प्रान्तों के रहने वाले थे। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में हो रही

अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार के सिलसिले में इन सबका आना हुआ था। गुरुकुल कांगड़ी के ही एक प्रोफेसर इन सबको लेकर यहाँ आए हुए थे। गुरुदेव के ऊपर वाले कक्ष में पहुँचकर उनसे मिलकर सभी भाव विभोर हो गए। प्राय: सभी को लालसा थी कि गुरुदेव से अपने मन की बातें कहें, अपनी जिज्ञासाओं के समाधान पाएँ। लेकिन उनमें से कोई ब्राजील का था, तो कोई स्पेन, कोई फ्रांस का था, जो भारत के थे, वे भी तमिल, कन्नड़ या तेलूगु बोलते थे।

बड़ी अजीब सी स्थिति बन गयी। पहले उनमें से कोई फ्रांसीसी या स्पेनिश में बोलता, फिर उसका पहले अंग्रेजी के बाद हिन्दी में अनुवाद होता। इसके बाद गुरुदेव द्वारा बोले गए हिन्दी शब्दों का पहले अंग्रेजी में, बाद में उनकी भाषाओं में अनुवाद होता। कुछ मिनटों तक यह स्थिति रही। इसके बाद पूज्य गुरुदेव ने इस घटनाक्रम के सारे सूत्र अपने हाथों में लेते हुए उन सबसे कहा- आप सब अपनी-अपनी भाषाओं में अपनी बातें कहें। मैं सबको समझ लूँगा और जो मैं कहूँगा, वह आप समझ लेंगे। इसके बाद तो बात-चीत का यह अनूठा सिलसिला शुरू हो गया। आए हुए प्रोफेसर, विशिष्ट विद्वान, तमिल, कन्नड़, स्पेनिश, फ्रेंच आदि भाषाओं में अपनी बातें कहने लगे। पूज्य गुरुदेव बड़े आराम से हिन्दी में उनके समाधान देने लगे। देर तक लगभग डेढ़ से दो घण्टे तक यह सिलसिला चलता रहा। गुरुदेव उन सबकी अलग-अलग भाषाओं को आसानी से समझ रहे थे। इसी तरह वे सब भी गुरुदेव की बातों को बड़े आराम से समझ पा रहे थे।

सुनने वालों की भाव मुद्रा, उनकी आँखों की चमक, माथे की लकीरें, यदा-कदा उनके छलकते हुए आँसू सारी कहानी कह रहे थे। बात-चीत के अन्त में सभी के चेहरे पर श्रद्धा व सन्तुष्टि के भाव थे। उनके चले जाने पर इस घटना के साक्षी उनके ही एक शिष्य ने इस चमत्कार का रहस्य पूछा। इस पर वह बोले- अरे बेटा! इसमें कोई चमत्कार नहीं है और तब उन्होंने योगसूत्र के विभूतिपाद के इस सूत्र की चर्चा करते हुए कहा- महर्षि पतंजलि ने भी इसकी चर्चा की है। अगर व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर अपने ध्यान को केन्द्रित करता है, तो वह एक हो जाता है, केन्द्रित हो जाता है। और तब निर्विचार होकर किसी भी ध्वनि को सुना जा सकता है। तब वह ध्वनि ही अपने भीतर छिपे हुए सत्य को स्पष्ट कर देती है। ऐसी स्थिति में इस ध्वनि को सुनने के लिए भाषा के किसी

ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। बल्कि व्यक्ति को मौन को समझना आना चाहिए। अगर व्यक्ति शान्त हो तो वह मौन को, अन्तर्मन में उठने वाले भाव व विचार को आसानी से समझ सकता है।

इसी क्रम में उन्होंने अपने हिमालय प्रवास की भी चर्चा की। उन्होंने बताया उस समय साँप, गिलहरी, जंगली भालू, शेर आदि जानवर और अनेकों पक्षी उनके घनिष्ठ मित्र बन गए थे। साधना के अतिरिक्त समय में ये सब आकर उनसे मन की बातें किया करते थे। इनमें से कुछ को अपने पिछले जन्मों के कर्मों का ज्ञान था। वे अपने इन कर्मों का प्रायश्चित्त करके इन योनियों से उबरना चाहते थे। बातचीत के इस क्रम में गुरुदेव ने बताया कि उनकी यह विचित्र मित्र मण्डली बिना मांगे ही उनकी अपनी सामर्थ्य अनुसार सहायता-सेवा भी करती। उनसे बातें करने में कभी कोई कठिनाई नहीं होती थी। गुरुदेव के इस अनुभव में स्पष्ट हो रहा था कि शब्द पर संयम करने से अर्थ कैसे स्पष्ट हो जाते हैं।

संस्कारों के ज्ञान से होता है जन्म-जन्मान्तरों का बोध

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक को अन्तर्चेतना का ज्ञान देते हैं। वह इसकी सूक्ष्म परतों को जानने-समझने व अनुभव करने में समर्थ होता है। आमतौर पर व्यक्ति व व्यक्तित्व का आंकलन उसके व्यवहार से होता है। बहुत ज्यादा हुआ तो कल्पनाओं व विचारों को समझने की कोशिश की जाती है। इसके आगे आदतों का क्रम है। आज के दौर में ज्यादातर मनोवैज्ञानिक इन्हीं सबके आधार पर व्यक्ति व उसके व्यक्तित्व को परिभाषित करने की कोशिश करते हैं। लेकिन योग की सीमा यहाँ तक सिमटी हुई नहीं है। उसके व्यापक दायरे में व्यक्ति के वर्तमान जीवन के साथ उसके सभी पिछले जीवन भी हैं जिनके अनुभवों को वह अपने चित्त में सहेजे-समेटे व संजोये है। इन अनुभवों को, इनके विविध रूपों को परिभाषित करने के लिए अन्तर्यात्रा विज्ञान ने एक महत्त्वपूर्ण शब्द गढ़ा है- 'संस्कार'।

संस्कार रुचियों का, व्यवहार का प्रेरक है। वह व्यक्ति की कल्पनाओं, विचारों एवं भावनाओं में रंग भरता है, उसे स्वरूप प्रदान करता है। हालांकि भारतदेश की संस्कृति, यहाँ की परम्परा में यह शब्द बहुप्रचलित है। फिर भी इसके सही अर्थ एवं मर्म से कम लोग ही परिचित हैं। संस्कार के नाम पर समय-समय पर जीवन में किए जाने वाले षोडश संस्कारों की चर्चा होती है या फिर घर-परिवार में बच्चों को परवरिश में अच्छी-बुरी बातों या आदतों के

सिखाये जाने को संस्कारों में शामिल कर दिया जाता है। ये दोनों बातें अपनी जगह पर ठीक हैं, लेकिन इतने भर से संस्कार शब्द की सही व्याख्या नहीं हो पाती। इसके सच को समझने के लिए थोड़ा और गहरे पैठना होगा।

संस्कार वह गहरा भाव और इससे जुड़ा वह कर्म है, जिसकी अमिट छाप न केवल व्यवहार और विचार में, बल्कि चित्त की गहराई पर अंकित हो जाती है। व्यवहार परिवर्तित हो जाता है, विचार भी बदल जाते हैं, परन्तु संस्कार आसानी से न तो मिटता है और न बदलता है। जब हमारा किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा घटनाक्रम से गहरा भावनात्मक जुड़ाव होता है, तो बरबस इसकी अमिट छाप चित्त में पड़ जाती है। यही संस्कार है। यदि भाव सकारात्मक और शुभ हुए तो शुभ संस्कार और यदि नकारात्मक व अशुभ हुए तो अशुभ संस्कार। ध्यान रहे जीवन में हमारे जैसे जहाँ शुभ या अशुभ भाव होते हैं, उसी के अनुरूप हम वहाँ कर्म करते हैं। इस कर्म की तीव्रता और मात्रा भी हमारे भावों के अनुरूप ही होती है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी से प्रेम करते हैं, तो उसके साथ हमारे कर्म भी तदनुरूप होंगे। यदि हम किसी से घृणा या द्वेष करते हैं तो फिर वहाँ हमारे कर्म भी उसके अनुरूप होंगे।

संस्कार और कर्म का जुड़ाव हमारे जीवन में कर्म संस्कार का निर्माण करता है। संस्कार को यदि हम डोर समझें तो उससे जुड़ा हुआ कर्म उसे मजबूत या कमजोर बनाता है। इन्हीं कर्म व संस्कार के परिपाक से हमारे जीवन के शुभ या अशुभ घटनाक्रम निर्धारित होते हैं और यह निर्धारण इतना अकाट्य व अचूक होता है कि इससे बच पाना लगभग नामुमकिन होता है। यहाँ लगभग शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है क्योंकि कठिन और उग्र तप से, भगवान् की शरणागति से इनकी तीव्रता कम की जा सकती है। हाँ! इन्हें पूर्णतया समाप्त कर देना नामुमकिन है। कम या ज्यादा समय के लिए इनका सामना करना ही पड़ता है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग हमारे जीवन में इस सच को जानने-समझने में सहायक सिद्ध होते हैं। इस योगकथा में ऐसी ही एक समझ की चर्चा की गयी है। इसमें कहा गया है कि शब्द-अर्थ और उसमें समाए विचार या भाव ये सभी आपस में मिलकर मन में एक साथ चले आते हैं। लेकिन शब्द पर संयम पा लेने से पृथकता घटित होती है और तब किसी भी प्राणी द्वारा बोली जाने वाली

ध्वनियों का व्यापक अर्थ बोध घटित होता है। यह कहने के बाद महर्षि पतंजलि संयम के द्वारा ज्ञान का एक सर्वथा नया आयाम उद्घाटित करते हैं। यह नया आयाम है संस्कारों की समझ का आयाम। जो उनके इस नए सूत्र में है-

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ ३/१८॥

शब्दार्थ= संस्कार साक्षात्करणात्= (संयम द्वारा) संस्कारों का साक्षात् कर लेने से; पूर्वजातिज्ञानम्= पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= अतीतगत संस्कार बद्धताओं का आत्मसाक्षात्कार कर उन्हें पूरी तरह समझने से पूर्वजन्मों की जानकारी मिल जाती है।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में मानव जीवन का सम्पूर्ण इतिहास जैसे एक साथ कह देते हैं। हालांकि उन्हें हुए लगभग पांच हजार साल बीत चुके, फिर भी लगता है कि वह अभी भी समय से पूर्व हैं। लगता है उनका समय अभी आया नहीं। मनुष्य के अन्तर्जगत को अभी भी विज्ञान का आधार नहीं मिला, जबकि पतंजलि ने अन्तर्जगत के विज्ञान को सभी आधार, सम्पूर्ण संरचना दे डाली है। उन्होंने अन्तर्जगत के विज्ञान को जो ढांचा, जो संरचना दी है, वह अभी भी प्रतीक्षा कर रही है कि मनुष्य जाति उस महिमामय विज्ञान के करीब आए और उसे समझ सके। सच कहें तो पतंजलि विराट् हैं, मनुष्य की चेतना की पराकाष्ठा हैं वे। उनकी ऊँचाई इतनी अधिक है कि चोटी तो दिखाई ही नहीं देती, वह अभी भी बादलों में छुपी है। फिर भी उनकी हर बात स्पष्ट है। अगर चलने की तैयारी हो तो वह गन्तव्य तक पहुँचाने में समर्थ है।

उन्होंने जो भी कहा वह सब का सब महत्त्वपूर्ण है। परन्तु अपने इस सूत्र में उन्होंने जो संस्कार का सच कहा, वह अतिशय महत्त्वपूर्ण है। इसको समझ लेने पर जैसे जीवन का सब का सब, बीता हुआ, वर्तमान और आने वाला सभी अपने हाथों में आ जाता है। हाँ! यह सच है कि संस्कार अपने कर्म भोग के साथ, चित्त की परतों में दबे होते हैं। और वे अपना परिपाक होने पर, अपना समय आने पर उभरते हैं। और तब घटित होते हैं तीव्र घटनाक्रम, परिवर्तित हो जाती है परिस्थितियाँ, बदल जाता है सब कुछ। नए सम्बन्ध, नए परिवर्तन, स्थान का निर्धारण, छोटी-बड़ी जीवन की हर बात सभी संस्कारक्रम के अनुसार ही हो पाते है।

सामान्य जीवन क्रम में इनका प्रकटीकरण कालक्रम से होता है। प्रत्येक संस्कार के अथ व इति का पूर्व निर्धारण काल कर्म योग के अनुसार कर देता है। ज्योतिष के द्वारा भी इसकी गणना करना सम्भव है। परन्तु यह सामान्य जनों का सामान्य तरीका है। इसके अलावा अनेकों विशिष्ट तरीके, विशिष्ट विधियाँ भी हैं, जिनके द्वारा संस्कारों को उभारा, काटा और बाँधा जा सकता है। जो तप की कठिन विधियों में निष्णात हैं, वे तप व अन्तर्यात्रा विज्ञान की कठिन विधियों के प्रयोग से चित्त में समाहित इन दूषित संस्कारों को समाप्त कर देते हैं। इतना ही नहीं शुभ संस्कारों का पोषण, सिंचन भी कर लेते हैं।

संयम के द्वारा इनका साक्षात्कार कर लेने पर यह कार्य किया जा सकना सम्भव है। कई बार तो इस विधि से आठ-दस जीवन के कर्म संस्कारों को कुछ वर्षों में समाप्त कर लिया जाता है। हां, यह अवश्य है कि ऐसा करने के लिए साहसिक व्यक्तित्व आवश्यक है। जो अभी खेलने के खिलौनों की मांग पर अड़े हैं, उनके लिए यह सम्भव नहीं है। जो अभी विकसित होने को तैयार नहीं हैं, जो विकसित होना नहीं चाहते, जो अपनी मूढ़ताओं को पकड़े अड़े खड़े हैं, उनके लिए इस विधि-विज्ञान का प्रयोग करना सम्भव नहीं है। अन्यथा संस्कार के विज्ञान को समझकर एक जन्म में ही अन्तिम छोर पर पहुँचा जा सकता है।

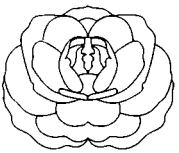

संयम से खुलते हैं दूसरों के मन के द्वार

अन्तर्यात्रा विज्ञान की प्रक्रियाएँ अपनाने पर योग साधक को जीवन का स्वरूप स्पष्ट होता है। सामान्यतया जीवन व्यवहार की क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का जखीरा भर नजर आता है। ऐसा लगता है कि इन व्यावहारिक अन्तर्क्रियाओं के सिवा जीवन और कुछ भी नहीं। जो थोड़ा अधिक अनुभव करने की कोशिश करते हैं, वे स्वयं को वासनाओं, लालसाओं एवं लिप्साओं के विचारों, भावों, उद्वेगों एवं उद्वेलनों से कसा-बंधा और जकड़ा पाते हैं। जीवन का सामान्य परिचय बस इतना ही मिल पाता है। इससे अधिक परिचय पाने के लिए योग साधना का पुरुषार्थ चाहिए। जब योग साधना को सुदीर्घ समय तक करते हुए साधक की निर्मल चेतना उसे अन्तर्दृष्टि प्रदान करती है, तो जीवन का परिदृश्य बदल जाता है। उस समय नयी अनुभूतियाँ, बोध के नए द्वार खोलती हैं। बात समझ में आती है कि बाहरी व्यवहार सब कुछ नहीं, विचारों, भावों की हलचल की अनुभूति भी पर्याप्त नहीं है।

इस व्यवहार व विचार के परे चित्तभूमि में संस्कारों का तल है। इनसे जुड़ी हुई कर्मराशि है। यही जीवन का आधार है। संस्कार व कर्म के सूत्र समझ लेने पर न केवल वर्तमान जीवन बल्कि विगत् अतीत के जीवनों की परतें खुलने लगती हैं। अपना वर्तमान जीवन ऐसा क्यों है, हमें यही माता-पिता और यही परिवार क्यों मिला ? इन प्रश्नों के उत्तर बड़ी आसानी से मिल जाते हैं। जिनके

पास इस रहस्यमय तल को समझने की क्षमता है वे अपने वर्तमान जीवन के संयोगों, सुयोगों, सम्बन्धों एवं सभी घटनाओं की बड़ी प्रामाणिक व्याख्या कर लेते हैं। जो इस क्षमता से रहित हैं, वे बस कल्पना, अनुमान या फिर निरर्थक तर्कों में उलझे रहते हैं। जीवन का सत्य उन्हें स्पर्श नहीं कर पाता। इसलिए उनके गहरे प्रश्न सदा ही अनुत्तरित रह जाते हैं। उनकी जिज्ञासाओं को कभी सही व सटीक समाधान नहीं मिल पाता।

महर्षि ने अपने सूत्र के द्वारा संस्कारों के इसी सच को स्पष्ट किया था। इसमें बताया गया है कि संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने पर योग साधक को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान की आवश्यकता किसी कौतुक-कौतुहल के लिए नहीं बल्कि साधना की सम्पूर्णता के लिए अनिवार्य है। पूर्वजन्मों की भूलों से सीखा जाना सम्भव है। उनका सुधार-परिष्कार सम्भव हो पाता है। अधूरी रह गयी साधनाओं के सूत्र पता चलते हैं, साथ ही पता चलता है अधूरेपन का कारण। इससे सम्बन्धों का सच भी पता चलता है। ऋणानुबन्ध, विगत लेन-देन आदि जान लेने पर ऋण मुक्त होना सम्भव बन पड़ता है। क्योंकि ऋणानुबन्ध रहने पर चित्त भूमि परिष्कृत नहीं हो पाती। ऐसे में प्रकाश बोध कुछ भी सम्भव नहीं हो पाता।

महर्षि ने इससे अगले चरण को अपने सूत्र में स्पष्ट किया है-

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ ३/१९॥

शब्दार्थ= प्रत्ययस्य= दूसरे के चित्त का (संयम द्वारा साक्षात्कार कर लेने से); परचित्तज्ञानम्= दूसरे के चित्त का ज्ञान (हो जाता है)।

भावार्थ= जो प्रतिछवि दूसरों के मन को घेरे रहती है, उसे संयम द्वारा जाना जा सकता है।

बड़ा महत्त्वपूर्ण है यह सूत्र, जो बताता है कि गहरे में हम सब एक ही हैं। बस बात गहरे उतरने की है। अगर साधक को संयम उपलब्ध हो जाय, उसे समाधि सिद्ध हो, तो उसके भीतर अपने आप ही एक गहन मौन, शान्ति व नीरवता छा जाती है। इस अवस्था में यदि ऐसा हो सके कि विचार की एक भी तरंग, विचार की कोई लहर मन में न उठे तो फिर बड़ी आसानी से दूसरों के मन की कल्पनाएँ, उनके विचार व भाव देखे जा सकते हैं। ऐसा साधक दूसरों के विचारों को आसानी से पढ़ सकता है। यही नहीं औरों की चित्त भूमि पर संयम

करके उनके संस्कारों को, विगत जन्मों व कर्मों को बड़ी आसानी से जान सकता है।

इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक घटना है। उन दिनों परम पूज्य गुरुदेव लेखन की कक्षा लिया करते थे। यह कक्षा दोपहर में बारह बजे के लगभग चलती थी। प्राय: एक घण्टे इस कक्षा के माध्यम से उनका सान्निध्य मिला करता था। इस बीच यदा-कदा उनसे कोई मिलने भी आ जाता। प्राय: ये मिलने वाले अपने गायत्री परिवार के परिजन ही होते। कभी इनमें दूसरे लोग भी होते। लेकिन ये सभी होते थे जीवन की तपिश से तपे हुए, समस्याओं से संतप्त, परिस्थितियों से परेशान। इन लोगों को परम पूज्य गुरुदेव से आध्यात्मिक सहायता तो मिलती ही थी, साथ में व्यावहारिक बौद्धिक समाधान भी मिलते।

निश्चित ही इन क्षणों का साक्षी होना, बड़ा दुर्लभ अनुभव होता। यदा-कदा तो यह अनुभव अति दुर्लभतम की श्रेणी में आ जाता। यह तब होता जब गुरुदेव से कोई विशिष्ट आध्यात्मिक सन्त मिलने के लिए आते। एक बार ऐसा ही हुआ। एक दरवेश पूज्य गुरुदेव से मिलने आए। ये मुस्लिम सन्त बड़े पहुँचे हुए फकीर थे। कठिन तपस्या, पाक परवरदिगार की इबादत में इनका जीवन बीता था। ऐसे महान् सन्त का गुरुदेव से मिलने आना हुआ, सोचकर मन को बड़ी प्रसन्नता हुई, चलो, इस दुर्लभ सत्संग का लाभ हमें भी मिलेगा। पूज्य गुरुदेव ने भी उनका स्वागत बड़ी आत्मीयता व गर्मजोशी से किया। उन सन्त के मुख पर भी बड़ी प्रसन्नता व कृतज्ञता के भाव थे।

उन्होंने अपनी सबसे पहली चाहत यह जतायी कि वह गुरुदेव के सामने अपनी नमाज अदा करना चाहते हैं। पूज्य गुरुदेव ने बड़ी प्रसन्नता से उन्हें ऐसा करने की अनुमति दे दी। उन्होंने वहीं गुरुदेव के कक्ष में अपनी नमाज पूरी की। इस नमाज में उन्हें क्या अनुभव हुआ यह तो नहीं मालूम, पर इतना अवश्य था कि उनकी आँखें आँसुओं से भरी थीं और होठों पर परम तृप्ति की मुस्कान थी। नमाज पढ़ने के बाद उन्होंने कमरे पर नजर डाली, जहाँ वे लोग थे जो लेखन की कक्षा के लिए आ गए थे। एक पल के लिए उनके मुख पर असमंजस उभरा, फिर तत्काल ही वह शान्त हो गए। उनके मुख का यह भाव परिवर्तन समझ में नहीं आया। लेकिन वह बड़े मजे से गुरुदेव के सामने बिछे टाट पर बैठ गए।

पूज्य गुरुदेव अपने बिस्तर पर बैठे थे और वह मुस्लिम सन्त टाट के टुकड़े पर। हालांकि गुरुदेव ने उनसे बहुत आग्रह किया कि वह कुर्सी पर बैठें, लेकिन वह माने ही नहीं। इसके बाद न तो गुरुदेव कुछ बोले और न वह मुस्लिम दरवेश। हाँ उन दोनों के भाव अवश्य परिवर्तित हो रहे थे। कभी उन सन्त के मुख पर चिन्ता की लकीरें आतीं तो कभी जिज्ञासा की। गुरुदेव के मुख पर कभी आश्वस्ति के भाव होते, कभी आशीर्वाद व आश्वासन के। लगभग आधे-पौन घण्टे यह क्रम चला। ऐसा लग रहा था, जैसे कि उनमें कोई आदान-प्रदान चल रहा है, पर क्या ? यह समझ में नहीं आ रहा था। इस आधे घण्टे के बाद वह सन्त ध्यानस्थ या समाधिस्थ हो गए। लगभग बीस-पच्चीस मिनट यह स्थिति बनी रही। इसके बाद उन्होंने उठकर गुरुदेव के सामने सजदा किया और कृतज्ञ भावों के साथ वहाँ से विदा हो गए।

बड़ी विचित्र पहेली सा लगा यह सब। दोनों में कोई एक शब्द भी न बोला था, ऐसे में सामने बैठे हुए को समझ में आता भी क्या ? उनके चले जाने पर आखिरकार गुरुदेव से इस बारे में पूछा, तो पहले तो वे जोर से हँसे और कहने लगे- 'आज तुझे कुछ भी नहीं पता चला न ?' फिर वह स्वयं ही बोले- 'बेटा ! ये जो आए थे, सचमुच ही उत्कृष्ट साधक हैं, उनकी साधना में एक जटिल अवरोध आ गया था। इसी के समाधान के लिए वह यहाँ आए थे। यह अवरोध उनके विगत जीवन से सम्बन्धित संस्कारों का था। मैंने उनकी चित्त भूमि में प्रवेश कर यह अवरोध हटा दिया है, अब उनकी साधना निर्बाध हो जाएगी।' अपने संयम का प्रयोग कर के पूज्य गुरुदेव ने न केवल उनके चित्त का समग्रता से साक्षात्कार किया, बल्कि विगत जन्मों से सम्बन्धित इन संस्कारों के अवरोध को हटा भी दिया। इस घटना ने महर्षि पतंजलि के सूत्र के सत्य को स्वत: ही परिभाषित, प्रकाशित कर दिया।

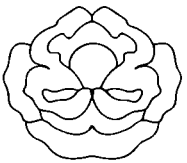

समाधि से संभव है दूसरे के चित्त का सम्यक ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी निरन्तरता, प्रगाढ़ता एवं परिपक्वता के परिणाम में योग साधक को योग दृष्टि का अनुदान देते हैं। यूं तो सामान्य दृष्टि सभी के पास है। सभी को जीवन की प्राय: सभी चीजें दिखाई देती हैं। इसी के आधार पर न केवल देखने बल्कि सोचने, समझने और जीने के तौर-तरीके विकसित होते हैं। इसी के बलबूते जीवन शैली विनिर्मित होती है, जो प्रकारान्तर से हमारे व्यक्तित्व के स्वरूप, संरचना और हमारी अपनी अनुभूतियों का आधार बनती है। प्रत्येक व्यक्तित्व के उत्कृष्ट या निकृष्ट होने का सर्वमान्य एवं सामान्य कारण यही है। यह बात तो सामान्य जीवन व आमजन के बारे में है, लेकिन योग साधक सामान्य जन से भिन्न और उत्कृष्टता व प्रकाश पथ के पथिक होते हैं। इसके पीछे उनकी योग साधना की क्रियाशीलता कार्य करती है।

योग साधना के कारण योग साधक अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए निरन्तर गतिशील होते हैं। जिस क्रम में उनका व्यक्तित्व परिष्कृत व परिशोधित होता है, उसी क्रम में विकसित होती है उनकी दृष्टि उसी क्रम में परिमार्जित और विकसित होता है उनकी अनुभूतियों का संसार। आम जन जहाँ बाहरी रिश्ते-नातों, सम्बन्धों, साधनों एवं इनसे सम्बन्धित घटनाक्रमों में अटके रहते हैं, वहीं योग साधक सहज भाव से अन्तर्यात्रा के यात्री बन जाते हैं। इस विशिष्ट विज्ञान

के वैज्ञानिक प्रयोगों को अपनाने से उनके सामने सर्वथा नया संसार प्रकाशित होता है। उन्हें जो यह नयी दृष्टि मिलती है, उससे वे समझ पाते हैं कि बाह्य जगत केवल कार्य की दुनिया है, इनके यथार्थ कारण अपने स्वयं के अन्दर हैं। यहाँ पर किया जाने वाला बदलाव सहज ही बाहर के घटनाक्रमों में आमूल-चूल परिवर्तन कर देता है।

यह सच किसी एक विशेष व्यक्ति का नहीं, बल्कि हम सभी का है। हममें से हर एक इसी सच से संचालित होता है। हालांकि इस बात को समझ वही पाते हैं जिनके पास योगदृष्टि है, जो संयम की साधना में निष्णात हैं। इस योगकथा में इसी से सुपरिचित कराया गया है। महर्षि के वचन हैं कि जो प्रतिछवि दूसरों के मन को घेरे रहती है, उसे संयम के द्वारा जाना जा सकता है। इसके लिए कुछ अधिक नहीं, बस अपना मन शान्त एवं स्वच्छ होना चाहिए। विकार रहित व विचार रहित मन में ही संयम सहज सम्भव होता है। और इस संयम को जहाँ भी केन्द्रित किया जाता है, वहीं का सच स्पष्ट प्रकाशित होने लगता है। फिर भले ही दूसरे का चित्त क्यों न हो ? हालांकि इसकी भी एक सीमा है। इसे महर्षि ने अपने अगले सूत्र में स्पष्ट किया है-

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ ३/२०॥

शब्दार्थ= च= किन्तु; तत्= वह ज्ञान; सालम्बनम्= आलम्बन सहित; न= नहीं होता; तस्य अविषयीभूतत्वात्= क्योंकि (वैसा चित्त) योगी के चित्त का विषय नहीं है।

भावार्थ= लेकिन संयम द्वारा बोध उन मानसिक तथ्यों का ज्ञान नहीं करवा सकता, जो कि दूसरे के मन की छवि-प्रतिछवि को आधार देते हैं। क्योंकि यह बात संयम की विषय वस्तु नहीं होती।

महर्षि के इस सूत्र की अपनी विशेष महत्ता है, जो उनकी वैज्ञानिकता, तार्किक दृष्टिकोण एवं प्रयोगधर्मिता को स्पष्ट करती है। जब वैज्ञानिक प्रयोग किए जाते हैं, तो उसकी पृष्ठभूमि नियंत्रित होती है, साथ ही विधियाँ भी सुनिश्चित होती हैं। ये दोनों मिलकर इसके परिणाम को निर्धारित करते हैं। संयम के साथ भी यही है। संयम ज्ञान पाने का, जानकारी उपलब्ध करने का एक उपकरण मात्र है, ठीक वैसा ही कुछ जैसा कि प्रयोगशाला में कम्पाउण्ड माइक्रोस्कोप या फिर इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप कार्य करते हैं। कम्पाउण्ड

माइक्रोस्कोप की अपनी सीमा है। इस सीमा से अधिक सूक्ष्मता इससे नहीं देखी जा सकती है। इससे आगे के लिए इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप का इस्तेमाल करना पड़ता है। संयमजनित योगदृष्टि के साथ भी कुछ यही है। सामान्य दृष्टि की तुलना में यह अधिक परिष्कृत, परिमार्जित एवं विकसित है। लेकिन यह सम्पूर्ण नहीं है और न ही इसके द्वारा व्यक्ति सर्वज्ञ बनता है। हाँ! इतना अवश्य है कि इसके द्वारा वे चीजें अनुभव की जा सकती हैं, जो सामान्य दृष्टि से प्रायः असम्भव हैं।

धारणा, ध्यान एवं समाधि का सम्मिलित अभ्यास संयमित मन को शान्त, स्वच्छ, स्थिर व एकाग्र करता है। इससे साधक का चित्त स्वच्छ दर्पण की भांति हो जाता है और इसमें देखी जाने वाली कोई भी चीज सहज व स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती है। फिर भले ही वह किसी का चित्त ही क्यों न हो ? हम जैसे ही दूसरे के मन पर संयम करते हैं, उसका स्वरूप हमारे स्वयं के मन पर स्पष्ट होने लगता है। उनके मन में क्या चल रहा है, किस तरह की हलचल अथवा किस तरह के विचार उसके मन में ध्वनित हो रहे हैं, सब का सब स्पष्ट हो जाता है। संयम की इस विधि के द्वारा बड़े आराम से दूसरे के मन को एक पुस्तक की भांति पढ़ा या जाना जा सकता है। लेकिन बस इतना ही; इससे आगे का ज्ञान संयम की इस अवस्था में सम्भव नहीं है।

मन की हलचल या इसमें उठने वाली विचार तरंगों का ज्ञान भले ही इस संयम से सम्भव हो, परन्तु ये विचार क्यों हैं, यह जान पाना सम्भव नहीं हो पाता है। विचार भले ही बाहरी घटनाओं का कारण बनते हों, परन्तु अन्तर्जगत में ये भी कार्य हैं। इनका कारण होते हैं- संस्कार, रुचियाँ और आदतें। जब तक इन्हें नहीं जाना जाता, तब तक विचारों का सही अभिप्राय जान पाना सम्भव नहीं है। विचारों के अभिप्राय को समझने के लिए गहरी समाधि की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए चाँद की प्रतिछवि होती है, स्वच्छ जल में इसे देखा जा सकता है। सफेद बादलों से घिरे पूर्णिमा के चन्द्रमा की इस छवि को देखना सुखद है और सम्मोहक भी। यह अनुभव स्वच्छ जल के माध्यम से पाया जा सकता है, परन्तु चन्द्रमा की छवि ऐसी क्यों है ? इसमें घट-बढ़ क्यों होती है ? चन्द्रमा का अस्तित्व क्यों है ? इन सभी सवालों के जवाब हमें स्वच्छ जल से नहीं प्राप्त हो सकते। भले ही यह

जल कितना ही स्वच्छ क्यों न हो। इसके लिए अतिरिक्त ज्ञान की आवश्यकता है।

ठीक इसी तरह जो विचार दूसरों के मन में चल रहे हैं, उनका अभिप्राय क्या है ? यह जान पाना संयम से सम्भव नहीं हो पाता। क्योंकि विचारों को बनाने वाली, प्रेरणा, छवि की तुलना में ज्यादा सूक्ष्म होती है। छवि तो इसकी तुलना में स्थूल होती है। वह सहज ही मन के पर्दे पर प्रतिबिम्बित हो जाती है, उसे देखा जा सकता है। लेकिन वह छवि होती क्यों है ? चाँद के बारे में व्यक्ति सोचता ही क्यों है ? फिर वह चित्रकार हो, कवि हो या कोई उन्मादी पागल। इनमें से किसी के भी विचारों को देखा-जाना तो जा सकता है। परन्तु इतने भर से व्यक्ति का उद्देश्य नहीं पता चल पाता।

इसके लिए चाहिए समाधि का गहरा तल। ऐसा ज्ञान व्यक्ति को तभी सम्भव है, जब वह निर्बीज समाधि को उपलब्ध हो जाय। इससे पहले विचारों का उद्देश्य, अभिप्राय जान लेना सम्भव नहीं है। क्योंकि इसकी छवि नहीं होती, कोई आकार नहीं होता। यह सूक्ष्म बात है, इसकी जड़ें तो व्यक्ति के अचेतन में होती हैं। कर्मराशि और उसमें छुपे हुए संस्कारों को जान पाने पर ही विचारों की संरचना का कारण स्पष्ट हो पाता है। इसके लिए अधिक विकसित होने की जरूरत है। जब हमारे मन से, चित्त से विचारों का अभाव हो जाता है, तब हम दूसरों के विचारों को जानने योग्य हो पाते हैं। इसी तरह से जब हमारे चित्त से संस्कार तिरोहित हो जाते हैं, केवल तभी हम दूसरों के संस्कारों को जानने योग्य हो पाते हैं। जब हमारी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तभी हम दूसरों की इच्छाओं को जानने योग्य बनते हैं। यह स्थिति केवल निर्बीज समाधि होने पर ही सम्भव होती है।

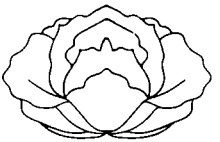

अदृश्य होने का ज्ञान और विज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक की अन्त:प्रकृति को निरन्तर परिशोधित, परिमार्जित, परिष्कृत व पवित्र करते हैं। इसी के साथ बदलता व बनता है, साधक की अनुभूतियों एवं शक्तियों का संसार। उसमें नयी क्षमताएँ, नवीन विभूतियाँ प्रकट होती हैं। जो पहले किसी भी तरह से सर्वथा असम्भव था, वही बाद में सम्भव व सहज लगने लगता है। कुछ नया करने की सामर्थ्य स्वत: जन्म ले लेती है। अन्तर्यात्रा विज्ञान का यह पड़ाव, विचित्र किन्तु सत्य, आश्चर्यजनक किन्तु सत्य, रहस्यमय किन्तु सत्य को साकार करता है, फलित करता है। हालांकि यह सब भले ही कितना अचरजपूर्ण लगे किन्तु होता है नियमानुसार, नियम के अनुरूप। ये नियम स्थूल या भौतिक प्रकृति को समझने वालों को भले ही सर्वथा अपरिचित या अनजान लगें, किन्तु जिन्हें सूक्ष्म प्रकृति का ज्ञान है, उनके लिए ये नियम पूरी तरह से तर्क पूर्ण, व्यवस्थित व सहज अनुभव होते हैं।

संयम से दूसरे के मन का ऊपरी तल जाना जा सकता है, उसके विचार जाने जा सकते हैं; परन्तु इन विचारों को आधार देने वाले संस्कार या आदतें इस प्रक्रिया से नहीं जानी जा सकतीं। इसके लिए और गहरे तल पर उतरने की जरूरत है।

इसके बाद महर्षि अपने अगले सूत्र में एक नए सत्य को प्रकट करते हैं-

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ ३/२१(अ)॥

शब्दार्थ= कायरूपसंयमात्= शरीर के रूप में संयम कर लेने से; तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे= जब उसकी ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब; चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे= चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण; अन्तर्धानम्= योगी अन्तर्धान हो जाता है।

भावार्थ= ग्राह्यशक्ति को हटा देने के लिए, शरीर के स्वरूप पर संयम सम्पन्न करने से द्रष्टा की आँख और शरीर से उठती प्रकाश किरण के बीच सम्बन्ध टूट जाता है और तब शरीर अदृश्य हो जाता है।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में अदृश्य होने का विज्ञान स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि योगी का अदृश्य होना चमत्कार नहीं बल्कि वैज्ञानिक सत्य है। आधुनिक भौतिक विज्ञान कहता है कि अगर हम एक दूसरे को देख पा रहे हैं, तो केवल इसलिए क्योंकि सूर्य की किरणें हम पर पड़ रही हैं और फिर वे सरकती हुई हमसे प्रतिबिम्बित होती हैं। सूर्य की किरणें या प्रकाश की किरणें हमारी आँखों पर पड़ रही हैं, इसीलिए तो हम एक दूसरे को देख पाते हैं। अगर कोई ऐसा तरीका हो कि हम सूर्य की किरणों को सोख लें और फिर प्रतिबिम्बित न हों, तो हम सब एक दूसरे को नहीं देख पाएँगे। हम केवल तभी एक दूसरे को देख सकते हैं, जबकि सूर्य अथवा किसी अन्य प्रकाश स्रोत की किरणें हम तक पहुँचती है। अगर अंधेरा हो तो कहीं से कोई प्रकाश किरणें न आ रही हों, तो हम नहीं देख सकते। लेकिन अगर हम सभी इन प्रकाश किरणों को सोखते जाएँ और वापस कुछ भी प्रतिबिम्बित न हो, तो हम एक दूसरे को नहीं देख पाएँगे। ऐसी स्थिति में केवल एक काला धब्बा दिखाई पड़ेगा।

यही वैज्ञानिक सच है। इसी तरह हम रंगों को देख पाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी ने लाल रंग के कपड़े पहने हैं, तो हम उसे देख पाते हैं कि उसने लाल रंग के कपड़े पहने हैं। इसका मतलब केवल इतना है कि उसके कपड़े लाल रंग की किरणों को वापस फेंक रहे हैं और बाकी सारी किरणें उसके कपड़ों द्वारा सोख ली जा रही हैं। बस लाल रंग की किरण वापस आ रही है। इसी तरह से जब सफेद रंग देखते हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि सभी रंग

की किरणें वापस फेंकी जा रही हैं क्योंकि सफेद रंग अपने आप में कोई रंग नहीं है। इसका तात्पर्य है कि यह सभी रंगों का जोड़ है। अगर कपड़ा काले रंग का हो तो कुछ भी वापस फेंका नहीं जा रहा, सभी रंग की किरणें उसमें समाती जा रही है। इसीलिए तो काला रंग भी कोई रंग नहीं है, इसका मतलब हुआ कि यह रंग विहीन है। काले रंग के द्वारा सभी सूर्य किरणों को सोख लिया जाता है।

महर्षि पतंजलि इसी वैज्ञानिक आधार पर कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति अपने ऊपर पड़ने वाली सारी किरणों को सोख ले तो फिर वह अदृश्य हो सकता है। फिर उसे किसी भी तरह से देख पाना मुमकिन नहीं है। ऐसे में तो बस रिक्तता, काली रिक्तता का आभास होगा। व्यक्ति तो वहाँ अदृश्य ही रहेगा। योगी इसे कर पाता है। कैसे और किस तरह से ? इसके लिए पूरी प्रक्रिया को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

महर्षि पतंजलि की दर्शन पद्धति में बाहरी संसार व आन्तरिक संसार में एक गहरा तालमेल है। ऐसा होना भी चाहिए क्योंकि अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के बीच सघन तालमेल है। हमें दिखाई देने वाला प्रकाश सूर्य से आता है, आँखें उसे ग्रहण करती हैं। अगर आँखें उसे ग्रहण न करें तो सूर्य के पूरी तरह से मौजूद रहने के बावजूद हमें अंधेरे में ही जीना पड़ेगा। अंधे आदमी के साथ यही होता है। अंधे आदमी की आँखें प्रकाश को किसी भी रूप में उसके किसी भी अंश को ग्रहण नहीं कर पातीं।

आँखों के साथ सूर्य के तालमेल में आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक दोनों ही सच्चाई निहित है। आँखें हमारे शरीर में सूर्य की प्रतिनिधि हैं। सूर्य आँखों को प्रभावित करता है। इसी तरह ध्वनि कानों पर प्रभाव डालती है। हालांकि ध्वनि होती तो बाहर है और कान की प्रक्रिया शरीर में घटित होती है। बाहर की वास्तविकता को हम तत्त्व रूप में जानते हैं और भीतर की वास्तविकता तन्मात्रा के रूप में जानी जाती है। महर्षि पतंजलि के वैज्ञानिक चिन्तन में समझने के लिए इन दोनों को जान लेना, समझ लेना काफी महत्त्वपूर्ण व जरूरी है। तत्त्व वह है जो बाहर की वास्तविकता है और तन्मात्रा भीतर की गतिमयता है। इसीलिए बाहरी जगत् को पंचभूतात्मक जगत् कहा गया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यही प्रधान तत्त्व हैं, बाहरी जगत् में। इनकी गतिमयता का आन्तरिक संसार रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श के रूप में संचालित होता है।

इसीलिए आँख व सूर्य के बीच, ध्वनि और कान के बीच, नासिका व गन्ध के बीच एक तालमेल व संवाद से जीवन संचालित होता है।

जब व्यक्ति ध्यान की गहराई में जाता है, धारणा, ध्यान व समाधि के सम्मलित स्वरूप संयम में स्वयं को सिद्ध करता है, तब कुछ नयी घटनाएँ घटती हैं। ऐसी स्थिति में वह व्यक्ति तन्मात्राओं को, आन्तरिक मूलतत्त्वों को, तन्मात्राओं को जानने में समर्थ होता है। सामान्यतया व्यक्ति पंचभूतों के संसार को अनुभव करता है। लेकिन संयम की स्थिति आने पर वह पंच तन्मात्राओं के संसार को अनुभव करने लगता है और इसी सूक्ष्म बोध की गहनता में उसके अदृश्य हो जाने की प्रक्रिया निहित है।

इस अवस्था में अगर योगी केवल अपनी काया पर, अपने शरीर के स्वरूप पर संयम करता है, तो वह इस संयम के माध्यम से सूर्य की किरणों को सोख लेता है और वे किरणें फिर वापस प्रतिबिम्बित नहीं होती। जब शरीर पर या काया के स्वरूप पर संयम किया जाता है, तो शरीर के सभी बन्द द्वार खुल जाते हैं और सूर्य की किरणें शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं और तब काया की तन्मात्रा सूर्य के तत्त्व को सोख लेती है। और तब अचानक व्यक्ति अदृश्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसे कोई देख नहीं सकता। क्योंकि देखने के लिए तो प्रकाश का प्रतिबिम्बित होना जरूरी है।

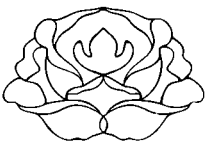

शब्दों के तिरोहित हो जाने का विज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग प्रकृति के गूढ़ व सूक्ष्म तत्त्वों का परिचय कराते हैं। इसी के साथ यह भी बताते व सिखाते हैं कि कब किस तत्त्व का अथवा प्रकृति के सत्य का कैसे इस्तेमाल किया जाय? यही वजह है कि जिसे सर्वसामान्य असाधारण व आश्चर्यजनक कहते हैं, उसे योगी सहज, सामान्य, साधारण व विज्ञानसम्मत कहता है। जिसे हम आधुनिक विज्ञान कहते हैं, वह केवल भौतिक प्रकृति के सत्यों, नियमों एवं इनके प्रयोगों का ज्ञान है। पराभौतिक अथवा सूक्ष्म प्रकृति के सत्यों, नियमों व इनके प्रयोगों का ज्ञान आधुनिक विज्ञान के पास नहीं है। परन्तु योग, जो कि अन्तर्विज्ञान है, वह परा-भौतिक अथवा सूक्ष्म प्रकृति के सत्यों, नियमों एवं इनके प्रयोगों में पारंगत है, निष्णात है। उसे इसमें विशेषज्ञता हासिल है। इसीलिए तो योग विज्ञान की शब्दावली में चमत्कार जैसे किसी शब्द का कोई स्थान नहीं है। क्योंकि यह शब्द सिरे से अवैज्ञानिक है, जबकि योग विद्या सम्पूर्ण रूप से वैज्ञानिक है।

योग की वैज्ञानिक शब्दावली में ऋद्धियों, सिद्धियों, निधियों एवं विभूतियों की चर्चा है। योगीजन इनकी चर्चा करते हुए, चिन्तन करते हुए यह बात भली प्रकार स्पष्ट करते हैं कि ये सभी योग की भौतिक उपलब्धियाँ हैं। इनका आध्यात्मिक ज्ञान व विकास से किसी भी प्रकार का कोई लेना-देना नहीं है। ये तो केवल सूक्ष्म प्रकृति की शक्तियाँ हैं, इनका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग तो

मनुष्य के अपने विवेक या अविवेक पर निर्भर करता है। जहाँ तक बात आध्यात्मिक ज्ञान एवं विकास की है, तो इसका आधार चित्तशुद्धि है। चित्त शुद्ध होने के अनुरूप ही कोई योग साधक आध्यात्मिक विकास से सम्पन्न हो पाता है। हाँ! इतना अवश्य है कि इसी विकास के क्रम में वह ऋद्धियों, सिद्धियों, निधियों एवं विभूतियों का भी अधिकारी बनता है।

योगशास्त्र में पुराण कथाओं में अनेकों स्थानों पर अनेक बार योगी के अन्तर्ध्यान होने की बात कही गयी है। योगसिद्ध व्यक्तियों का प्रकट होना, फिर अदृश्य हो जाना; इस क्रम में दो बातें होती हैं- पहली बात, वहीं अपनी उपस्थिति बनाए रखते हुए अदृश्य हो जाना। दूसरी बात यह कि न केवल वहाँ से अदृश्य होना, बल्कि वहाँ से अन्यत्र चले जाना। पुराणों में अनेकों कथा प्रसंगों में ऐसी बातें कही गयी हैं। इसके अलावा सन्तों, सिद्धों एवं आध्यात्मिक महामानवों के जीवन प्रसंगों में भी इन बातों का प्रमाणिक ढंग से उल्लेख हुआ है।

इस चर्चा में अगली कड़ी जोड़ते हुए महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र का प्रतिपादन किया है-

एतेन शब्दाध्यन्तर्धानमुक्तम्॥ ३/२१(ब)॥

शब्दार्थ= एतेन= यही (ऊपर कहा गया नियम); शब्दाध्यन्तर्धानमुक्तम्= शब्द के तिरोहित हो जाने की बात को भी स्पष्ट कर देता है।

भावार्थ= इसके पहले के सूत्र में कहा गया नियम शब्द के तिरोहित हो जाने की बात को भी स्पष्ट कर देता है। यही बात अन्य तन्मात्राओं के बारे में भी समझना चाहिए।

महर्षि पतंजलि के इस सूत्र में सूक्ष्म प्रकृति का ज्ञान समाविष्ट है। जो केवल स्थूल प्रकृति को जानने, समझने के अभ्यासी हैं, उनके लिए तो यह किसी चमत्कार से कम नहीं है। लेकिन जिन्हें सूक्ष्म प्रकृति के सत्य की समझ है, उनके लिए यह सब सहज व वैज्ञानिक है। जब योगी कान की तन्मात्रा पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो सारी ध्वनियाँ उसमें स्वयं समाहित हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में उसकी मौजूदगी में हमें सहज, स्वाभाविक मौन का स्वाद मिल जाता है। अगर हम किसी ऐसे योगी के निकट जाते हैं, तो हमें ऐसा लगता है कि हम मौन में प्रवेश कर रहे हैं। इसकी वजह सिर्फ इतनी है कि उसके इर्द-

गिर्द कोई ध्वनि निर्मित नहीं होती बल्कि इससे उल्टा जो चारों ओर की ध्वनियाँ उस पर पड़ती हैं, वे भी उसमें आत्मसात होकर विलीन हो जाती हैं और ऐसा ही उसकी अन्य इन्द्रियों के साथ भी होता है, जिसके कारण योगी कई-कई ढंगों से अदृश्य हो जाता है।

परम पूज्य गुरुदेव से जुड़े हुए ऐसे कई संस्मरण हैं, जिनकी चर्चा व चिन्तन में इस सूत्र की स्वत: ही व्याख्या हो जाती है। जिस संस्मरण का हम यहाँ पर उल्लेख कर रहे हैं, वह वर्ष १९८८ ई. के फरवरी मास का है। उस दिन शिवरात्रि पर्व था। परम पूज्य गुरुदेव गोष्ठी लेने वाले थे। इस गोष्ठी में शान्तिकुञ्ज के वरिष्ठ परिजनों की उपस्थिति अनिवार्य थी। यह अनिवार्यता सभी को वरदान की तरह लगी। सभी ने यह सोचा कि आज शिवरात्रि है और इस पावन दिन परम पूज्य गुरुदेव का दर्शन, उनकी वाणी का श्रवण, उनका अलौकिक सान्निध्य, स्वयं महेश्वर महाकाल के सान्निध्य के समान था। गोष्ठी में जिन्हें उपस्थित होना था, उनमें से एक कार्यकर्त्ता ने नया कैमरा और नया टेपरिकार्डर अभी कुछ ही समय पहले खरीदा था।

उन्होंने सोचा कि आज पूज्य गुरुदेव की गोष्ठी में इन दोनों को ले चलेंगे। कैमरे से गुरुदेव की फोटो खींचेंगे और टेपरिकार्डर में उनकी आवाज रिकार्ड करेंगे। यह सोचकर उन्होंने अपनी ये दोनों चीजें अपने साथ ले लीं। फिर अचानक उनके मन में आया कहीं उनका टेपरिकार्डर धोखा न दे जाय, सो उन्होंने कई लोगों की आवाज रिकार्ड कर बार-बार परीक्षण कर लिया। कैमरे का परीक्षण वह इससे पहले ही कर चुके थे। जब उन्हें अपने इन दोनों यंत्रों पर भरोसा हो गया तो वह इन्हें लेकर गोष्ठी में पहुँच गए।

गुरुदेव जब गोष्ठी शुरू करने वाले थे, तो उन्होंने उनसे उनकी फोटो खींचने व उनकी आवाज रिकार्ड करने की अनुमति मांगी। उनकी इस बात पर पूज्य गुरुदेव ने कहा- बेटा! मैं तुम लोगों की गोष्ठी लेने वाला हूँ, कोई तमाशा थोड़े ही करने वाला हूँ। इस समय फोटो खींचने और आवाज रिकार्ड करने की क्या आवश्यकता है? उनकी यह बात सुनकर उन कार्यकर्त्ता को थोड़ी मायूसी हुई। इनका मायूस और उतरा हुआ चेहरा देखकर गुरुदेव को परिहास सूझा। उन्होंने हँसते हुए कहा- अच्छा तू अपना कैमरा और टेपरिकार्डर मुझे देखने तो देगा न? उत्तर में उत्साहित होकर उन्होंने ये दोनों चीजें गुरुदेव के हाथों में दे दी। गुरुदेव

ने उनका उत्साहवर्धन करते हुए कहा- बेटा! तूने यह सब कितने का लिया? जब यह सुनकर कार्यकर्त्ता के चेहरे पर फिर से खुशी वापस लौट आयी तो गुरुदेव ने कहा- तेरा मन है तो खींच ले फोटो, कर ले रिकार्ड मेरी बातें।

पूज्य गुरुदेव के इन शब्दों को सुनकर तो उन कार्यकर्त्ता की खुशी का ठिकाना ही न रहा। गुरुदेव अपनी बातें कहते रहे और ये लगातार गोष्ठी रिकार्ड करते रहे। साथ ही उनकी अलग-अलग ढंग से फोटो लेते रहे। बाद में उन्होंने वहाँ उपस्थित अन्य लोगों की भी फोटो ली। कुछ फोटो सभी को गुरुदेव के साथ बिठाकर ली। यह गोष्ठी खत्म हो जाने के बाद गुरुदेव हँसते हुए बोले- अपने मन की करके अब तो तू खुश है? वे बोले- हाँ गुरुदेव! मुझे बहुत अच्छा लगा है। उनकी यह बात सुनकर गुरुदेव एक बार फिर हँस दिए। जब सब लोग नीचे उतरे तो उन्होंने सबसे पहले टेपरिकार्डर में रिकार्ड की हुई आवाज की जाँच की तो उसमें गुरुदेव की आवाज बिल्कुल भी नहीं थी। हाँ, बीच-बीच में बोली गई अन्य आवाजें अवश्य थीं।

कहीं उनका टेपरिकार्डर तो नहीं खराब है, यह जाँचने के लिए उन्होंने फिर से पास खड़े लोगों की आवाज रिकार्ड की। टेपरिकार्डर बिल्कुल सही रिकार्डिंग कर रहा था। अब तो उन्हें कैमरे की फोटो पर भी शक होने लगा। उन्होंने झटपट कैमरे की रील धुलवाई। रील धुलने के बाद जो फोटो बनी उसमें गुरुदेव की फोटो नहीं थी। यहाँ तक कि जो सामूहिक फोटो थी उसमें भी अन्य सब उपस्थित थे, बस गुरुदेव नदारद थे। उनकी कहीं कोई फोटो नहीं थी। बाद में उन्होंने जब इसकी चर्चा गुरुदेव से की तो उन्होंने कहा- बेटा! मैं तो साकार होते हुए भी निराकार हूँ। निराकार की तो न फोटो होती है और न आवाज। मेरे मना करने पर भी जब तू नहीं माना तो मैं सबके लिए साकार व दृश्य बना रहा, बस तेरे टेपरिकार्डर व कैमरे के लिए मैं निराकार व अदृश्य हो गया।

कर्मों के संयम से मिलता है मृत्यु के क्षण का ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक की अन्तर्चेतना में प्रकाश के अवतरण को सम्भव बनाते हैं। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप अन्तस का अंधियारा हटता है। साथ ही इस अंधियारे का स्थान लेती है प्रकाश की व्यापकता व सघनता। अन्तर्चेतना में अंधियारा जितना व्यापक एवं सघन होता है, उतनी ही जड़ता, तमस व अज्ञान की प्रधानता रहती है। अंधेरे की उपस्थिति जीवन को बरबस व बलात् विषाद-अवसाद आदि मनोरोगों एवं अनगिन शारीरिक रोगों से घेर लेती है। सब तरफ अशुभ छा जाता है, दुर्घटनाएँ जीवन क्रम का अनिवार्य अंग बन जाती हैं। प्रकाश का स्वभाव इसके ठीक विपरीत है। प्रकाश जितना व्यापक एवं सघन होता है, उतनी ही सात्त्विकता, ज्ञान व बोध जीवन का स्वभाव बनता है। प्रकाश की उपस्थिति जीवन में न तो मानसिक रोगों को पनपने देती है और न ही शारीरिक रोगों को। ऐसी स्थिति में केवल शुभ घटित होता है।

प्रकाश के व्यापक एवं सघन होने से ज्ञान व बोध भी व्यापक एवं सघन बनता है। सामान्य क्रम में व्यक्ति केवल वर्तमान को ही जानने में सक्षम है। अतीत की केवल धुंधली सी स्मृतियाँ रहती हैं और भविष्य का केवल अनुमान हो पाता है, जो कभी सही साबित होता है एवं कभी गलत। लेकिन अन्तर्चेतना में अन्तर्ज्ञान का प्रकाश फैल जाने पर न केवल वर्तमान बल्कि अतीत एवं भविष्य भी साधक के समक्ष सुस्पष्ट होते हैं। वह जो भी जानना चाहता है, जानने

में सक्षम व समर्थ होता है। संयम को सिद्ध करने वाला योगी अपनी इच्छानुसार स्वयं को जब चाहे तब अदृश्य, अश्रव्य, अस्पर्श कर सकता है। संयम की सिद्धि साधक को अपने संचित व प्रारब्ध कर्मों को जानने की क्षमता प्रदान करती है जिसके बल पर वह स्वयं के अतीत व भविष्य के बारे में जान सकता है।

इस प्रसंग को महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में स्पष्ट किया है-

सोपक्रमं निरूपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ ३/२२॥

शब्दार्थ= सोपक्रमम्= उपक्रम सहित; च= और; निरूपक्रमम्= उपक्रम रहित, ऐसे दो प्रकार के; कर्म= कर्म होते हैं; तत्संयमात्= उनका संयम कर लेने से (योगी को); अपरान्तज्ञानम्= मृत्यु का ज्ञान हो जाता है; वा= अथवा; अरिष्टेभ्यः= अरिष्टों से भी (मृत्यु ज्ञान हो जाता है)।

भावार्थ= सक्रिय व निष्क्रिय या प्रारब्ध व संचित, इन दो प्रकार के कर्मों पर संयम पा लेने से मृत्यु की ठीक-ठीक घड़ी की भविष्य सूचना पायी जा सकती है।

मृत्यु की घड़ी बड़ी डरावनी होती है, लेकिन केवल आम आदमी के लिए, योग साधक के लिए नहीं। योग साधक तो इस क्षण से परिचित होना चाहता है, इसे जानना चाहता है, इसके अनुरूप स्वयं की तैयारियाँ करना चाहता है। यही वजह है कि महर्षि ने अपने इस महत्त्वपूर्ण सूत्र में इस महत्त्वपूर्ण सत्य की चर्चा की है। यह चर्चा मृत्यु के भय से नहीं बल्कि मृत्यु के सत्य से जुड़ी है। इसी के साथ लिपटे हुए हैं कर्म के सत्य, योग साधना के सत्य। जीवन में होने वाले प्रत्येक घटनाक्रम का सम्बन्ध कर्म से है, फिर वह चाहे जन्म हो अथवा मृत्यु या फिर अन्य कोई घटनाक्रम। योग साधना चित्त के परिष्कार के लिए है और चित्त का परिष्कार अथवा शुद्धि तब तक सम्भव नहीं है, जब तक चित्त में समाहित सभी कर्मराशि, सारे संस्कार विनष्ट न हो जाएँ।

योग साधना के प्रयोग एवं योग की जीवन शैली इसी महान् उद्देश्य के लिए है। जहाँ तक कर्म की बात है तो इसे शास्त्रकारों एवं अनुभवी अध्यात्मवेत्ताओं ने तीन श्रेणी में विभाजित कर रखा है। इनमें से पहला है संचित कर्म, संचित का अर्थ है सम्पूर्ण या समग्र। सभी प्रकार की कर्मराशि इसी में संजोयी जाती है। इसी का एक हिस्सा, जिसका परिपाक हो चुका है प्रारब्ध बनता है। जिसका

शुभ अथवा अशुभ फल भोग हमारे वर्तमान जीवन के घटनाक्रमों का आधार बनता है। क्रियमाण वो कर्म है जिन्हें हम वर्तमान में करते हैं, जिनका तत्काल में भले ही कोई परिणाम न हो, लेकिन जब ये संचित में चले जाते हैं, तो फिर अपने परिपाक में हमारा प्रारब्ध बनकर उभरते हैं, तो इसका मतलब यह हुआ कि क्रियमाण कर्म, किए जाने के बाद संचित कर्म में संचय होते हैं। और संचित कर्मों की संचय राशि में जो कर्म परिपक्व हो जाते हैं, वे प्रारब्ध बनते हैं। इस तरह संचित, प्रारब्ध एवं क्रियमाण इन तीन कर्मों की श्रेणी में संचित व प्रारब्ध का महत्त्व विशेष है, क्योंकि ये क्रमिक रूप से परिणाम प्रस्तुत करने के लिए तैयार है। इसीलिए महर्षि ने अपने सूत्र में इन्हीं दोनों की चर्चा की है।

महर्षि का कहना है कि यदि प्रारब्ध यानि फल दे रहे कर्म एवं संचित यानि की भविष्य में फल देने के लिए तैयार कर्म, इन पर यदि संयम हो सके तो मृत्यु का ज्ञान सम्भव है। जहाँ तक क्रियमाण कर्मों का सवाल है तो योगी के लिए इनका कुछ भी महत्त्व इसलिए नहीं है क्योंकि योगी की तप साधना प्रधान जीवन शैली के कारण ये कभी अशुभ हो ही नहीं सकते। इस प्रसंग में दूसरी बात यह भी है कि निष्काम जीवन शैली के कारण योगी के जीवन में ये कर्म भी प्रभु अर्पित व फलरहित हो जाते हैं। ये कभी भी साधना जीवन में अवरोध नहीं बनते। सारे अवरोध तो केवल प्रारब्ध एवं संचित के कारण आते हैं। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान से इनका परिमार्जन, परिष्कार करना योगी का ध्येय होता है। इनमें से कितना हो सका, उसी के अनुरूप मृत्यु की घड़ी निश्चित होती है।

मृत्यु की घड़ी के लिए योगी का मन्तव्य सिर्फ इतना है कि कितना कार्य हो चुका और कितना अभी शेष है। प्रारब्ध कर्मों की कठोरता को तोड़ने के लिए कठिन तप आवश्यक है। साथ ही इसे केवल और केवल शरीर में रहकर किया जा सकता है। यदि तप साधना तीव्र न हुई और प्रारब्ध कर्म नहीं समाप्त हो सके, तो फिर जन्म लेना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए योगी संयम के द्वारा अपने संचित एवं प्रारब्ध की जाँच-परख करके मृत्यु की घड़ी का ज्ञान पा लेना चाहते हैं, ताकि उसी के अनुरूप साधना की तीव्रता निर्धारित की जा सके। प्रारब्ध कर्म अति कठोर होता है, पर कई बार ऐसे तीव्र आघात करता है कि असमय भी शरीर के क्षतिग्रस्त होने या नष्ट होने की सम्भावना बन जाती है। ये क्षण भले ही

मृत्यु के न हो फिर भी मृत्युतुल्य तो होते ही हैं। इनमें यदि असावधानी रहे तो मृत्यु भी घटित हो सकती है। असमय मृत्यु न हो, प्रारब्ध का सम्पूर्ण क्षय हो सके, इसके लिए मृत्यु की घड़ी का ज्ञान योगीजन संयम से प्राप्त कर लेते हैं।

महर्षि कहते हैं कि अरिष्टों से भी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। जैसे कि जन्म से पूर्व जीवात्मा नौ महीने माँ के उदर में रहकर जन्म की तैयारी करती है, ठीक वैसे ही मृत्यु से नौ महीने पूर्व जीवात्मा मृत्यु की तैयारी करने लगती है। इसके संकेत विभिन्न अरिष्टों के माध्यम से मिलने लगते हैं। इस प्रकरण को लिखते समय ऐसे अरिष्टों के बारे में सब कुछ साफ-साफ लिख दिया जाय, परन्तु इनसे एक ही परेशानी है कि अपरिपक्व चिन्तन उन अरिष्टों को जानकर व्यर्थ भयभीत भी हो सकता है। फिर भी एक संकेत तो लिखा ही जा रहा है। यह संकेत नाभिचक्र के बारे में है, मृत्यु से कुछ समय पूर्व नाभिचक्र से जीवात्मा से जुड़ी रजत रज्जु का सम्पर्क कमजोर पड़ने लगता है। जिन्होंने अपनी योगदृष्टि विकसित कर ली है, वे इस सच को अनुभव कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में एक सच और भी है, योग साधना के परिणाम स्वरूप जो नाड़ियाँ मलरहित हो चुकी हैं, जो द्वार खुल चुके हैं, उनके माध्यम से योगी मृत्यु होने पर अपने शरीर से बाहर निकलता है। इसी के अनुरूप सूक्ष्म लोकों में उसके लोक एवं कक्षा का निर्धारण भी होता है।

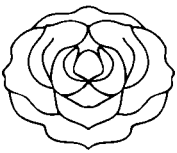

मैत्री गुण के सधने से सधते हैं सारे गुण

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी निरन्तरता एवं परिपक्वता में अन्तर्चेतना के सर्वथा नवीन आयाम का उन्मेष करते हैं। विराट की ओर, अनन्त की ओर, एक नया गवाक्ष खोलते हैं। ऐसी एक नयी अनुभूति प्रदान करते हैं, जो जीवन की वर्तमान परिभाषा में, वर्तमान सीमाबद्धता में सम्भव नहीं है। सीमित को असीम करना, सान्त को अनन्त करना, स्वराट को विराट करना अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग का ही प्रभाव व परिणाम है। हालांकि यह परिवर्तन या रूपान्तरण बहुत ही क्रमिक ढंग से होता है। इसके अचानक या यकायक होने की कोई सम्भावना नहीं है। बस जैसे-जैसे चित्त की अशुद्धियाँ दूर होती जाती हैं, जैसे-जैसे चित्त अपने कर्म व संस्कारों से मुक्त होता जाता है, वैसे-वैसे उसमें स्वतः ही विभूतियाँ प्रकट होती जाती हैं। महर्षि पतंजलि ने जिन विभूतियों की चर्चा की है, ये चमत्कारिक होते हुए भी चमत्कार नहीं हैं। ये तो बस चित्त का अंधियारा मिटने एवं उसके प्रकाशित होने का सहज परिणाम है।

सक्रिय व निष्क्रिय अथवा यूं कहें कि प्रारब्ध व संचित इन दो प्रकार के कर्मों पर संयम पा लेने से मृत्यु की ठीक-ठीक घड़ी की भविष्य सूचना पायी जा सकती है। मृत्यु के क्षण का योगी के लिए विशेष महत्त्व है। इस क्षण को संवार कर वह अपने अस्तित्त्व को एक सर्वथा नया आयाम, नयी कक्षा देने में सक्षम होता है। जन्म के क्षण का भारी महत्त्व है। सम्पूर्ण जीवन में, इसके प्रत्येक

घटनाक्रम में जन्म के क्षण का अविरल प्रभाव बना रहता है। मृत्यु के क्षण का महत्त्व इससे भी ज्यादा है। इस क्रम में महत्त्व शरीर छोड़ने से भी अधिक इस बात का है कि व्यक्ति के प्राण किस केन्द्र से निकले हैं। सामान्यतया जब कोई साधक संयम को उपलब्ध हो जाता है, तो मृत्यु के ठीक तीन दिन पहले वह सजग हो जाता है कि उसे किस केन्द्र से शरीर छोड़ना है। ज्यादातर तो वह सहस्रार से ही शरीर को छोड़ता है। जो साधक मृत्यु के इस सत्य और रहस्य को जान लेता है, तो समझो कि अब उसका दुबारा जन्म न होगा।

हालांकि इस रहस्य को ठीक-ठीक वही जान पाता है, जिसने जीवन का पाठ पूरा कर लिया है। संसार की पाठशाला में उसने सभी आवश्यक अनुभव प्राप्त कर लिये हों। इन अनुभवों के लिए भी योग विभूतियाँ उसकी सहायक बनती हैं। इन्हीं सहायक विभूतियों की चर्चा महर्षि ने अपने अगले सूत्र में की है-

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ ३/२३ ॥

शब्दार्थ= मैत्री आदिषु= मैत्री आदि भावनाओं में (संयम करने से) (मैत्री आदि से सम्बन्धित); बलानि= बल मिलते हैं।

भावार्थ= मैत्री आदि गुणों पर संयम करने से या किसी अन्य सहज गुण पर संयम सम्पन्न करने से उस गुणवत्ता विशेष में बड़ी सक्षमता आ मिलती है।

महर्षि पतंजलि के इस सूत्र में जीवन के व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक आयामों के लिए महत्त्वपूर्ण संदेश है कि जीवन व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक, इसमें एकाग्रता होते ही विकास प्रारम्भ हो जाता है। धारणा, ध्यान व समाधि के सम्मिलित रूप संयम का महत्त्व व महिमा तो एकाग्रता से अनेकों गुना अधिक है। संयम को जहाँ भी आरोपित किया जाता है, वहीं पर बोध व क्रियाशक्ति बढ़ने लगती है। इस सूत्र में मैत्री आदि कहकर महर्षि ने जिन गुणों की ओर संकेत किया है, उनकी चर्चा वह अपने योगसूत्र के पहले पाद के तैंतीसवें सूत्र में कर चुके हैं। यहाँ पर उस सूत्र को पुनः याद दिलाया जा रहा है-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ १/३३ ॥

इस सूत्र का निहितार्थ है कि सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्मा ये चारों जिनके क्रम से विषय हैं, उनके प्रति मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा

की भावनाओं से चित्त स्वच्छ हो जाता है। इस सूत्र में गुण तो तीन ही हैं- मित्रता, दया एवं प्रसन्नता, पर इन तीनों के अतिरिक्त जो चौथा गुण उपेक्षा है, वह तो दरअसल गुणहीनता या तटस्थता है। जहाँ तक बात संयम की है, तो वह आसानी से केवल तीन पर ही किया जा सकता है। महर्षि पतंजलि संयमजन्य जिन विभूतियों की चर्चा इस सूत्र में करते हैं, वह उनके पिछले कहे हुए सूत्र का अगला चरण है। पिछले सूत्र में उन्होंने मृत्यु की घड़ी का ज्ञान होने की बात कहकर जागरूकता या होश की चर्चा की थी। जीवन व्यावहारिक हो या आध्यात्मिक इन दोनों में ही जागरूकता पहला व अनिवार्य चरण है। इसके बाद आता है दूसरा चरण- संयम को प्रेम पर या करुणा पर ले आना।

इस सूत्र की समग्र व्याख्या करने वाला एक घटना प्रसंग है। यह घटना तब की है जब परम पूज्य गुरुदेव सन् १९७१ में हिमालय यात्रा पर गये थे। इस यात्रा में उन्हें यही भरोसा था कि अब इससे आगे का जीवन हिमालय की कन्दराओं में तप करते हुए बीतेगा। संकेत भी कुछ ऐसे ही थे। शान्तिकुञ्ज का संचालन वन्दनीया माताजी करेंगी। इन परिस्थितियों में यही तय हुआ था। इसी विचार व विश्वास के साथ गुरुदेव हिमालय गए थे। हिमालय के आंगन में पहुँचते ही उनके तप का क्रम प्रारम्भ हो गया। अनवरत तप साधना, गुह्य विद्याओं का अनुसंधान, यही उनका दैनिक क्रम था। इस अवधि में उनका शरीर भले ही धरा पर रह रहा हो, परन्तु भाव चेतना कहीं अन्य ही किसी आलोक लोक में विचरण करती थी। इस साधना क्रम में उन्हें अपने आस-पास की, देह की, परिवेश-परिस्थिति की कोई सुधि नहीं रहती थी।

ऐसी ही भावदशा में एक दिन एक घटना घटी, जिसे गुरुदेव ने बाद में अपनी वार्ता में बतलाया। जहाँ पर वह ध्यान कर रहे थे वहीं समीप ही एक बाघ ने एक व्यक्ति पर आक्रमण कर दिया। वह व्यक्ति वहाँ से काफी दूर एक पहाड़ी गाँव में रहता था। यदा-कदा इधर आ जाता था, इसलिए गुरुदेव भी उससे परिचित थे। जब बाघ ने उस पर आक्रमण किया, तब उसने ध्यानस्थ गुरुदेव को अपनी सहायता के लिए पुकारा। परन्तु गुरुदेव तो वहाँ होकर भी नहीं थे। उन्हें न तो कुछ दिखाई दे रहा था और न ही कुछ सुनायी दे रहा था। बहुत देर बाद जब उनकी आँखें खुली तो उन्होंने उस व्यक्ति को

खून से लथपथ देखा। उसकी दशा देखकर उन्हें स्पष्ट हो पाया। लेकिन अब तो कुछ भी करना सम्भव नहीं था।

वह बहुत देर तक स्तब्ध बने रहे। इस घटना का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया कि जब व्यक्ति अपने अन्तस्तल की गहराई में डूब जाता है, तो उसे फिर से शरीर की परिधि के साथ जुड़ने में थोड़ा समय लगता है। जब उनका तालमेल परिधि से हो पाया तो उन्होंने उस मृत व्यक्ति की ओर देखा, उसकी आँखों को देखा। उस मरे हुए आदमी की दृष्टि मरी हुई न होकर बड़ी सजीव थी। अनेकों प्रश्न थे उस दृष्टि में, जो उनको बेधने लगे। वह बहुत देर तक यूं ही व्यथित बने रहे। सूझा नहीं क्या करें। उनकी चिन्तन शक्ति जैसे थम सी गयी थी।

ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने मार्गदर्शक हम सबके दादा गुरुदेव का स्मरण किया। उनके इस तरह स्मरण करते ही उनका प्रकाश शरीर प्रकट हो गया। अपने मार्गदर्शक को सामने देखकर गुरुदेव ने उनसे पूछा- क्या आपका निर्देश सत्य था? इसके उत्तर में उनसे कहा गया- सत्य भी था और असत्य भी। तब गुरुदेव ने उनसे पूछा- उसमें सत्य क्या था? उत्तर मिला- प्रेम व करुणा। और उसमें असत्य क्या था? गुरुदेव के इस प्रश्न पर उन्हें उत्तर मिला- जीवन से भागना, पलायन। तो क्या मुझे फिर से वापस लौटना होगा? इसके उत्तर में उनके मार्गदर्शक की मुस्कराहट प्रकाश की किरणों की तरह सब ओर व्याप्त हो गयी। अब गुरुदेव को उनका उत्तर मिल गया। इस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा-उस क्षण से मैंने अपनी तप शक्ति, समाधि शक्ति का उपयोग सिद्धियों को बटोरने में नहीं, बल्कि प्रेम व करुणा को व्यापक व सघन करने में लगाया।

संयम के सदुपयोग से होता है असंभव भी संभव

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी प्रगाढ़ता में हमें शक्तिस्रोत से जोड़ते हैं। यहाँ तक कि हमें हमारे व्यक्तित्व व अस्तित्त्व को शक्तिपुञ्ज के रूप में परिवर्तित एवं रूपान्तरित करते हैं। इस चमत्कारिक सत्य को पढ़कर यह जिज्ञासा जगनी स्वाभाविक है- कैसे ? किस तरह ? इन प्रश्नों के समाधान में बस इतना कहना है कि हमारी वास्तविकता, हमारी यथार्थता यानि कि हमारी स्वयं की अन्तरसत्ता- अन्तरात्मा स्वाभाविक ही समस्त शक्तियों का स्रोत व शक्तिपुञ्ज है। लेकिन हम इसकी अनुभूति से सदा अनजान व अपरिचित बने रहते हैं। सम्भवत: इस अनुभूति में अनेकों अवरोध हैं, अड़चने हैं। योग के प्रयोग क्रमिक रूप से इन सभी अवरोधों, अड़चनों को समाप्त करते हैं। और तब हमारे अस्तित्त्व के कण-कण से, व्यक्तित्व के रोम-रोम से शक्ति की तरंगें सूर्य रश्मियों की तरह प्रवाहित होने लगती हैं।

सामान्य जीवन क्रम में हमारी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं। जो हमें बाहर दिखता है, उसी के बारे में हम अनुभव कर पाते हैं। शरीर की शक्तियों व सामर्थ्य का परिचय हमें इसी रूप में मिलता है। इन्हें विकसित करने के प्रयास भी बाहरी होते हैं। विचारों व भावनाओं का अनुभव बाहरी नहीं है, आन्तरिक है, इसलिए इनकी शक्ति व सामर्थ्य के बारे में हम जान नहीं पाते। बस जो थोड़ा बहुत आन्तरिक अनुभव हो पाता है, उसमें हम स्वयं को उलझा-फँसाकर दु:खी-

परेशान होते रहते हैं। विचारों के अविराम द्वन्द्व और भावनाओं के निरन्तर विक्षोभ ही इनकी कहानी है। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग हमें इस जटिल-कठिन स्थिति से उबारते हैं। इनके द्वारा हम स्वयं की वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाकर इनकी शक्तियों का परिचय पाते हैं और क्रमिक रूप से स्वयं की अन्तरसत्ता से जुड़कर उत्तरोत्तर शक्तिसम्पन्न बन जाते हैं।

क्या बिना किसी बाहरी साधनों के शक्तिसम्पन्न बनना, समर्थ होना सम्भव है? अन्तर्यात्रा विज्ञान इसका उत्तर सुनिश्चित हाँ में देता है। लेकिन योग विज्ञान के लिए व्यक्ति व व्यक्तित्व का शक्तिसम्पन्न व समर्थ-बलशाली होने से भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण है उसका सद्गुण सम्पन्न होना, गुणवान होना, मानवीय मूल्यों के प्रति सचेष्ट एवं समर्पित होना। पिछले सूत्र में कहा गया है कि मैत्री आदि गुणों पर संयम कर लेने से उस गुणवत्ता विशेष में बड़ी क्षमता आ जाती है। योग के अनुसार समर्थ होने से, शक्तिसम्पन्न होने से, अधिक जरूरी है सद्गुण सम्पन्न होना। क्योंकि सद्गुणों के अभाव में शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। गुणहीन व्यक्तियों के पास जो भी शक्ति आती है, वो हमेशा दुरुपयोग करते हैं फिर यह शक्ति चाहे सामाजिक हो, राजनैतिक हो या फिर वैज्ञानिक अथवा आध्यात्मिक।

इसीलिए पहले सद्गुण फिर शक्ति। इसीलिए महर्षि पतंजलि पहले सद्गुणों की चर्चा-चिन्तन करने के बाद अब बल की, शक्ति की चर्चा अपने इस अगले सूत्र में करते हैं-

बलेषु हस्तिबलादीनि॥ ३/२४॥

शब्दार्थ= बलेषु= (भिन्न-भिन्न) बलों में (संयम करने से); हस्तिबलादीनि= हाथी आदि के बल के सदृश (संयम के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के) बल प्राप्त होते हैं।

भावार्थ= हाथी आदि के बल पर संयम करने से, संयम के अनुरूप हाथी आदि के बल व शक्ति प्राप्त होती है।

बड़ा रहस्यमय व अद्भुत है यह सूत्र। जीवन व प्रकृति की समस्त शक्तियों की कुञ्जी है यह। जो कुछ भी हम चाहते हैं, उसी पर संयम को केन्द्रित कर देना है, फिर वैसा ही घटित होने लगेगा। क्योंकि व्यक्ति अनन्त है, असीम है। जैसा रूप या स्वरूप, सद्गुण या शक्ति हम पाना चाहते हैं, वैसा ही संयम से पा सकते

हैं। फिर सभी तरह के चमत्कार सम्भव हो सकते हैं। सब कुछ हमारे ऊपर निर्भर करता है। तब अगर हम हाथी जैसे अथवा किसी अन्य जैसे शक्तिशाली होना चाहते हैं तो हो सकते हैं, बस उस विचार को बीज की भांति भीतर संजोकर, उसे संयम से पोषित करना है। इस सूत्र का दुरुपयोग भी सम्भव है। सूत्र तो बस कुञ्जी है। अगर कोई व्यक्ति शैतान का रूप रखना चाहता है या कोई गलत रूप लेना चाहता है, तो वह उस भांति हो सकता है। हालांकि गलती करने वालों के लिए प्रकृति का दण्ड विधान सतत् सक्रिय है। फिर भी गलत करना सम्भव तो है ही।

सत्य यही है कि जितना गलत उपयोग भौतिक विज्ञान का सम्भव है, उतना ही गलत उपयोग अन्तर्यात्रा विज्ञान या योग विज्ञान का भी सम्भव है। योग का गलत उपयोग न हो सके, इसीलिए इसके प्रथम चरण में ही व्यक्तित्व-जीवन के परिष्कार की सुनिश्चित व्यवस्था की गयी है। भौतिक विज्ञान ने परमाणु ऊर्जा की खोज की है, उसका घातक प्रक्षेपण करके पूरी पृथ्वी को जलाकर भस्म किया जा सकता है। इस समूची धरती को कब्रिस्तान में बदला जा सकता है। लेकिन इसके सदुपयोग से पूरी धरती के सारे शहर जगमगाए जा सकते हैं। ऊर्जा की सभी जरूरतें पूरी की जा सकती हैं।

युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव इस सूत्र की व्याख्या में कई उदाहरण दिया करते थे। उनका कहना था कि इस सूत्र के रहस्य को पुरातन काल में कुछ लोगों ने जान लिया था। उनमें से एक वानरराज बालि थे, दूसरे अञ्जनी पुत्र हनुमान। इन दोनों में हनुमान का ज्ञान बालि से कहीं अधिक था। हालांकि बालि को भी बल पर संयम की असाधारण क्षमता प्राप्त थी। इसी वजह से जो भी प्रतिपक्षी उसके सामने आता, वह उसकी समस्त शक्तियों को स्वयं में आत्मसात कर लेता था। उसका स्वयं का बल तो उसके पास था ही। इस तरह उसके सामने प्रतिपक्षी योद्धा का बल घटकर आधा रह जाता, जबकि उसका स्वयं का बल ड्योढ़ा-दूना हो जाता। इस तरह बालि की विजय सुनिश्चित होती और प्रतिपक्षी की पराजय सुनिश्चित। संयम की इस प्रक्रिया की प्रवीणता ने बाली को अहंकारी, दम्भी बना दिया था। अपने छोटे भाई सुग्रीव का उसने सब कुछ छीन लिया। बाद में हनुमान की सहायता से भगवान् श्रीराम ने उसे दण्डित किया। हालांकि उन्हें भी उन्हें छुपकर मारना पड़ा क्योंकि प्रत्यक्ष होने पर सम्भावना

यही थी कि बालि उनकी शक्तियों पर संयम करके उन्हें भी आत्मसात कर लेता।

प्रकृति के दण्ड विधान के अनुरूप बालि को दण्डित होना पड़ा। बालि के स्वभाव के ठीक विपरीत हनुमान भगवान् के परम भक्त एवं विनम्र थे। जनसेवा-ईश्वरसेवा उनका ध्येय था। वह धरती की शक्तियों पर संयम करने में निष्णात होने के साथ प्रकृति की समस्त दिव्य शक्तियों, देव शक्तियों पर संयम करने में निष्णात थे। परन्तु उन्हें अपने बल पर कोई भी अभिमान न था। इसीलिए तो वह प्रभु की योजना व कार्य में उनके सहयोगी बने। उनसे सभी का कल्याण हुआ। आज भी वह अपने सद्गुणों व शक्ति के कारण अनगिन जनों के आराध्य हैं। उनका उदाहरण देते हुए परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे, संयम की योग्यता व प्रयोग विधि के आदर्श हैं- हनुमान, जिन्होंने अपनी शक्तियों का उपयोग सदा ही लोक-कल्याण में किया। जिनके जीवन का एक ही ध्येय वाक्य था- **रामकाज कीन्हें बिना मोहि कहाँ विश्राम।** यही तो है संयम के सदुपयोग की परिभाषा।

योगी की शक्ति है प्रज्ञा का प्रकाश

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग दुर्लभ व अनूठे हैं। कई बार सामान्य जन इनके बारे में सुनकर-जानकर चकित होकर इन्हें चमत्कार की संज्ञा दे डालते हैं, लेकिन वस्तुत: ऐसा है नहीं। जहाँ तक बात 'चमत्कार' शब्द की है तो यह हमारे अज्ञान की उपज है। सचमुच चमत्कार शब्द हमारे, हम सबके अज्ञान के कारण अस्तित्त्व में आया है। अज्ञान के कारण जहाँ हम कार्य व कारण के सम्बन्धों को नहीं पहचान पाते और घटनाक्रमों को घटित होते हुए देखते हैं, वहाँ बस उसे चमत्कार कहते हुए चकित होते रहते हैं। जबकि प्रत्येक घटना प्रकृति के नियमों के अनुसार ही घटित होती है, फिर वे नियम चाहे स्थूल प्रकृति के हों अथवा सूक्ष्म प्रकृति के। नियमों के विपरीत कहीं कुछ भी नहीं होता। इसीलिए जिन्हें जीवन के सत्य का बोध है, वे सभी प्रकृति के साथ साहचर्य निभाते हैं। उनका यह साहचर्य स्थूल प्रकृति के साथ ही नहीं सूक्ष्म प्रकृति के साथ भी होता है। जो ऐसा नहीं कर पाते वे प्राय: अपने स्थूल व सूक्ष्म जीवन में प्रकृति द्वारा ठुकराए जाते हैं व कष्ट पाते हैं।

परम पूज्य गुरुदेव अपनी आध्यात्मिक वार्ताओं में कहते थे कि जिस तरह विज्ञान प्रकृति के स्थूल नियमों की व्याख्या, विवेचना करता है, इन्हें अनुभव करता व कराता है; ठीक उसी तरह योग प्रकृति के सूक्ष्म नियमों की व्याख्या-विवेचना करता है, इन्हें अनुभव करता व कराता है। तभी तो इसे अन्तर्विज्ञान भी

कहते हैं। इसी प्रसंग में वह एक कहानी सुनाते थे। यह कहानी दरअसल एक सत्य घटना क्रम से सम्बन्धित थी। हुआ यूं कि एक बार एक पादरी महोदय अपने मत के प्रचार के लिए छत्तीसगढ़ क्षेत्र के आदिवासी इलाके में गए। उन्होंने सोचा कि इन भोले-भाले लोगों को कुछ चमत्कार दिखाकर अपने मत में परिवर्तित किया जाय। इसके लिए उन्होंने आदिवासियों से कहा कि तुम सबने कभी ऐसे व्यक्ति को देखा है जो अपने सारे दांत निकालकर फिर से उन्हें मुँह में लगा दे।

इस पर सभी एक स्वर से बोले- नहीं। तब उन पादरी महोदय ने अपने मुँह से बत्तीसी निकाली और फिर से उन सबको दिखाते हुए वापस लगा ली। आदिवासी उनकी इस बात से चकित व चमत्कृत हुए। लेकिन पादरी महोदय यह केवल इसलिए कर सके, क्योंकि उनकी वह बत्तीसी नकली थी। इसके बाद उन्होंने उनसे फिर से पूछा क्या तुमने किसी छोटे से डब्बे को गाते हुए सुना है ? उत्तर में फिर सभी ने एक स्वर से कहा नहीं। इस पर पादरी महोदय अपने ट्रांजिस्टर का स्विच ऑन किया और वहाँ पर सुरीला संगीत गूंजने लगा। आदिवासी इससे अतिशय चमत्कृत हुए। जबकि वास्तविक रूप से यह कार्य तो ध्वनि ऊर्जा के नियमों के अनुसार ही सम्पन्न हो सका। इस घटनाक्रम को सुनाते हुए युगऋषि गुरुदेव का कहना था कि सृष्टि में कहीं किसी तल पर ऐसा कुछ भी नहीं है, जो प्रकृति के नियमों के अनुरूप न हो। इन नियमों के विपरीत किसी घटनाक्रम का घटित होना सम्भव ही नहीं। ऐसी बातें न केवल अवैज्ञानिक हैं, बल्कि इनका आध्यात्मिकता से भी कोई मतलब नहीं।

योग का अन्तर्विज्ञान जीवन की सूक्ष्म प्रकृति के ऐसे ही अनूठे नियमों की चर्चा करता है, जिनका सम्बन्ध सूक्ष्म प्रकृति से है। संयम का प्रभाव ऐसा ही अनूठा व अद्‌भुत होता है। इसी क्रम में महर्षि का अगला सूत्र है-

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहित विप्रकृष्टज्ञानम्॥ ३/२५॥

शब्दार्थ= प्रवृत्त्यालोकन्यासात्= ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से; सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्= सूक्ष्म व्यवधानयुक्त और दूर देश में स्थित वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= पराभौतिक मनीषा के प्रकाश को प्रवर्तित करने से सूक्ष्म का बोध होता है, प्रच्छन्न का और दूरस्थ तत्त्वों का ज्ञान हो जाता है।

इस अनूठे सूत्र में महर्षि ने चर्चा की है, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की अर्थात् पराभौतिक मनीषा के प्रकाश की। इसके पहले भी कई प्रसंगों में वह इसकी चर्चा कर चुके हैं। इनमें से दो प्रसंगों का सम्बन्ध समाधिपाद यानि कि योग सूत्र के पहले अध्याय से है। इस प्रथम पाद अर्थात् समाधिपाद का सूत्र क्रमांक ३६ कहता है- **विशोका वा ज्योतिष्मती ॥१/३६॥** अर्थात्= योग के प्रयोग करते-करते साधक को यदि शोकरहित प्रकाशमय प्रवृत्ति का अनुभव हो जाय तो उससे भी मन स्थिर हो जाता है। इसी क्रम में इसी अध्याय यानि कि प्रथमपाद अर्थात् समाधिपाद का सूत्र क्रमांक ४७ भी है। इस सूत्र में कहा गया है- **निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥१/४७॥** अर्थात्= योग के प्रयोग में निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर योगी को अध्यात्म का प्रसाद प्राप्त होता है। उस समय उसकी समाधि में थोड़ा सा भी दोष नहीं रहता। उस समय योगी की बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ-निर्मल हो जाती है।

यही प्रसंग महर्षि ने तीसरे पाद अर्थात् विभूतिपाद में भी उठाया है। इसमें सूत्र क्रमांक ५ में उनका कहना है- **तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥३/५॥** उसको जीत लेने पर बुद्धि का प्रकाश प्राप्त होता है। अर्थात् योग का अभ्यास करते-करते जब योगी संयम पर विजय प्राप्त कर लेता है तो उस समय योगी को प्रज्ञा का प्रकाश प्राप्त होता है। अर्थात् उसकी बुद्धि प्रकाशित हो जाती है। इस समूचे प्रसंग-प्रकरण में एक सच को कई ढंग से कहा गया है। और वह है बुद्धि का प्रकाशित होना। सामान्य क्रम में बुद्धि तो हम सभी के पास है। बुद्धि का काम है तर्क करना, विवेचन-विश्लेषण, व्याख्या अथवा अनुमान करना। इन्हीं प्रक्रियाओं से बुद्धि ज्ञान का अर्जन करती है। परन्तु योग के अभ्यास से बुद्धि प्रज्ञा में परिवर्तित, रूपान्तरित हो जाती है। तब उसे प्राप्त होता है प्रकाश, मानो कि बुद्धि नेत्रहीन से नेत्रवान हो गयी हो। हाँ, ऐसी स्थिति में बुद्धि में दृष्टि आती है। यानि कि देखने की क्षमता। दोनों में अन्तर बस अंधे और देख सकने वाले का होता है। अन्धा केवल टटोल सकता है- यानि कि अनुमान, तर्क, विश्लेषण, विवेचन, व्याख्या से काम चलाता है। ये सभी प्रक्रियाएँ टटोलने की हैं। जबकि देखने वाले को टटोलने की कोई जरूरत नहीं है, वह सीधे देख सकता है।

बात दृष्टि की है, देख पाने की शक्ति की है, योगी की यह शक्ति है प्रज्ञा का प्रकाश। यह कुछ ऐसे कार्य करता है जैसे कि हमारे हाथ में ली हुई टार्च। टार्च

के स्विच को ऑन करके इसके प्रकाश को हम जहाँ भी प्रक्षेपित करते हैं, हमें वहीं की चीजें दिखाई देने लगती है। बस इसी तरह यदि संयमसिद्ध योगी किसी पदार्थ की आणविक संरचना देखना चाहे तो वह उसे देख सकता है। औषधियों के सूक्ष्म गुणों को वह आसानी से पहचान सकता है। योगी की यह प्रकाशित प्रज्ञा इलेक्ट्रान माइक्रोस्कोप से भी कहीं अधिक क्षमता से कार्य करती है। जिस तरह से वह सूक्ष्म चीजें देख सकता है, ठीक उसी तरह से वह छिपी हुई चीजें भी देख सकता है। धरती में दबे हुए खनिज, खजाने, समुद्र में छिपे हुए प्राकृतिक सत्य ये सभी योगी अपनी प्रकाशित प्रज्ञा से देख सकता है। इतना ही नहीं इस प्रक्रिया से शरीर व मन की आन्तरिक बीमारियाँ पहचानी जा सकती हैं। न केवल इतना भर बल्कि वहाँ प्रकाश व प्राण भेजकर इनका निवारण-निराकरण भी किया जा सकता है।

महर्षि इस सूत्र में यह भी कहते हैं कि इस प्रक्रिया से विप्रकृष्ट अर्थात् दूर की चीजों को जाना जा सकता है। इन्हें देखा जा सकता है, इन्हें अनुभव किया जा सकता है और इनको अपनी अनुभूति भी करायी जा सकती है। उदाहरण के लिए हम यदि भारत के किसी स्थान पर हैं, तो हम अपने स्थान पर बैठे हुए दूर देश जैसे अमेरिका, अफ्रीका, जापान के सत्य को देख सकते हैं, जान सकते हैं। वहाँ के किसी व्यक्ति को देख सकते हैं, उसकी सहायता कर सकते हैं। महान् योगियों के जीवन में ऐसी कई कथाएँ, अनेकों घटनाक्रम मिल जाते हैं, जब उन्होंने अपने साधना स्थल पर बैठे हुए अन्य देशों के पीड़ित जनों को सहायता पहुँचायी। साधना उच्चस्तरीय हो तो इससे दूरस्थ अन्य ग्रहों की खगोलीय स्थिति व लोक-लोकान्तर के सत्य भी जाने जा सकते हैं। वराहमिहिर आदि ने इसी योग प्रक्रिया के द्वारा अपने ज्योतिषीय अनुसन्धान सम्पन्न किए थे। बस योगी का संकल्प जिस लक्ष्य के लिए होता है, उसकी प्रज्ञा का प्रकाश वहाँ के सत्य को उसे दिखा देता है।

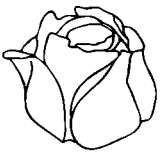

सूर्य पर संयम करने से होता है समस्त लोकों का ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग रहस्यमय हैं और रहस्य को उजागर-अनावृत्त करते हैं। इनके सूत्रों का उच्चारण, व्याकरण, इनका अर्थ और फिर अर्थ बोध, इनके प्रयोग, प्रक्रिया, प्रभाव व परिणाम की तरह बहुआयामी रहस्यमयता संजोये हैं। जो इनमें निमग्न होने का प्रयास करते हैं, उनकी जिह्वा, मन, बुद्धि एवं प्रज्ञा क्रमिक रूप से पवित्र व प्रकाशित होती है। इन्हें जितना समझा जाय उतना ही और समझना बाकी रह जाता है। जितना अनुभव किया जाय, उतनी ही अनुभूतियाँ शेष बनी रहती हैं।

ऐसा ही है विलक्षण अन्तर्यात्रा विज्ञान, इसके सूत्र व प्रयोग। इनसे जीवन, चेतना व प्रकृति के सत्यों का परत-दर-परत ज्ञान होता है। इस ज्ञान के साथ जीवन में प्रकाशित होती हैं- रहस्यमय शक्तियाँ व विभूतियाँ। सब कुछ निर्भर करता है योग साधक की निष्कपट साधना पर। जिसका साक्षी वह स्वयं होता है, साथ ही इसके साक्षी बनते हैं, स्वयं प्रकृति व परमेश्वर। जिन्हें इसका अनुभव है वे सभी जानते हैं कि निष्कपट व समर्पित साधक के लिए प्रकृति स्वयं पथ बन जाती है और वह उसे परमेश्वर तक पहुँचा देती है।

रहस्यमयता कहीं भी हो, किसी तरह की हो, प्रकाशित प्रज्ञा से सब कुछ अनावृत्त, उद्घाटित हो जाती है। वह प्रकाशित प्रज्ञा ही योग साधक की ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है। इसका प्रकाश व विकास चित्त शुद्धि के साथ व इसके

अनुरूप क्रमिक रूप से होता है। जैसे-जैसे अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग परिपक्व व प्रगाढ़ होते हैं, वैसे-वैसे चित्त शुद्ध होता है और प्रज्ञा प्रकाशित होती है। फिर इसके प्रभाव व परिणाम में सब कुछ स्पष्ट होता जाता है। जीवन व प्रकृति के सारे रहस्य क्रमिक रूप से प्रकट, स्पष्ट, उजागर व अनावृत्त होने लगते हैं।

इसी क्रम में महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं-

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ ३/२६॥

शब्दार्थ= सूर्ये= सूर्य में; संयमात्= संयम करने से; भुवनज्ञानम्= समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= सूर्य पर संयम करने से सम्पूर्ण सौर ज्ञान और भुवन ज्ञान की उपलब्धि होती है।

अनूठा है यह सूत्र और रहस्यमय भी। महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में सूर्य पर संयम करने की बात कही है। लेकिन सूर्य क्या है? इसके स्वरूप को कैसे समझें। योगसूत्र पर व्याख्या करने वाले मनीषियों, योगियों व विद्वान साधकों ने इस पर अपने अलग-अलग मत प्रकट किए हैं। इन सभी के अपने-अपने तर्क हैं, इसलिए प्रस्तुत अनुभव की गहनता व सम्पूर्णता अप्रकट रह जाती है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव की सूर्य साधना जीवनव्यापी थी। उन्होंने सूर्य साधना के विविध आयामों पर गहन अन्वेषण-अनुसन्धान किऐ थे। उनकी अनुभूतियाँ इस सूत्र के सत्य को प्रकट करने में सक्षम हैं। सामान्य बौद्धिक क्रम में इस सूत्र की तर्कपूर्ण व्याख्या तो सम्भव है, परन्तु इसका यथार्थ बोध सम्भव नहीं है।

युगऋषि पूज्य गुरुदेव का कहना था- सूर्य दृश्यमान सत्य है। आकाश से प्रकाश, ऊष्मा व ऊर्जा का धरतीवासियों को नित्य अनुदान देने वाले सूर्य को हम अपनी आँखों से रोज देखते हैं। लेकिन यह सूर्य एकाकी या अकेला नहीं है। इसका अदृश्य सम्बन्ध दो सूर्यों से और भी है। इनमें से पहला है महासूर्य, जो कि इस सूर्य के प्रकाश का मूल स्रोत है। वेद की ऋचाओं के उद्गाता महर्षियों ने इसकी स्तुति जगत् की आत्मा के रूप में की है। इसके अलावा अन्तर्गगन में प्रकाशित होने वाला सूर्य भी है। इस अन्तस्थ सूर्य को आध्यात्मिक साधक व योगीजन अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों में देखते हैं। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र के अर्थबोध के लिए इन तीनों के पारस्परिक सम्बन्धों का ज्ञान अनिवार्य है।

महासूर्य- सूर्य का वह स्वरूप है, जो जीवन एवं जगत् का स्रोत है। इस समस्त सृष्टि के सृजन का उद्गम है, जगत् की आत्मा व आधार है। यह दृश्यमान सूर्य तो बस उसका लघु अंश है। हालांकि अंश होने पर भी हमें गगन में दिखाई देने वाला सूर्य उससे सर्वथा अभिन्न है। इसीलिए इसकी पहचान परमात्मा के रूप में भी की जाती है। परमात्मा का एक नाम नारायण होने के कारण आकाश में दृश्यमान सूर्य को सूर्यनारायण भी कहा जाता है। जो एकता-अभिन्नता आकाश में दृश्यमान सूर्य एवं महासूर्य में है, ठीक वही एकात्मता, अन्तस्थ सूर्य व महासूर्य में भी है। अध्यात्मविद्या के आचार्य इसको आत्मा व परमात्मा की एकता के रूप में पहचानते हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने इसी सत्य को '**अयमात्मा ब्रह्म**' कहकर निरूपित किया है। यह निरूपण प्रकारान्तर से अन्तस्थ सूर्य व महासूर्य की एकात्मता का उद्घोष है। इस सत्य की आध्यात्मिक अनुभूति भी है।

कुछ ऐसी ही एकात्मता अन्तस्थ सूर्य व गगन में उदय होने वाले सूर्य में भी है। योग की भाषा में मनुष्य एक लघु ब्रह्माण्ड है। सूक्ष्म ढंग से मनुष्य एक छोटा सा ब्रह्माण्ड है। मनुष्य एक छोटे से अस्तित्त्व में सघन रूप से समाया हुआ है। यह जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है, यह और कुछ नहीं मनुष्य का विस्तार ही है। यह भाषा योग की है। लघु ब्रह्माण्ड, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। '**यत्पिण्डे-तत्ब्रह्माण्डे**', जो पिण्ड में वही ब्रह्माण्ड में। जो कुछ बाहर अस्तित्त्व रखता है ठीक वही मनुष्य के भीतर अस्तित्त्व रखता है। बाहर के सूर्य की भांति मनुष्य के भीतर भी सूर्य छिपा हुआ है। बाहर के चन्द्रमा की ही भांति मनुष्य के भीतर भी चन्द्रमा है। महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में हमें अन्तर्जगत के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण भूगोल दे देना चाहते हैं। इसलिए जब वे कहते हैं कि '**भुवन ज्ञानं सूर्ये संयमात्**' सूर्य पर संयम करने से सम्पूर्ण भुवनों का ज्ञान होता है तो उनका संकेत बाहरी सूर्य के साथ आन्तरिक सूर्य की ओर भी है। उनका मतलब अन्तस्थ व बाह्य सूर्य की एकता व एकात्मता से है।

इसका एक पहलू यह भी है कि बाहरी सूर्य पर एकाग्र होने पर आन्तरिक सूर्य पर एकाग्र होने की योग्यता आती है। ठीक इसी तरह आन्तरिक सूर्य पर एकाग्र होने से बाहरी सूर्य पर एकाग्र होने की प्रतिभा विकसित होती है। जो इस सत्य को समझ जाता है, उसके सामने खगोलीय रहस्य व अस्तित्त्व के सूक्ष्म

रहस्य उजागर होने लगते हैं। पुराणों में चौदह भुवनों की चर्चा की गयी है। ये सभी भुवन स्थूल जगत् में नहीं हैं। स्थूल जगत् का अर्थ केवल धरती से नहीं बल्कि जगत् की सूक्ष्म प्रकृति से है। इन चौदह भुवनों में से कुछ का सम्बन्ध स्थूल प्रकृति से है और कुछ का सूक्ष्म प्रकृति से। संक्षेप में कहें तो प्रकृति के चौदह आयाम, चौदह भुवन हैं। इनमें से प्रत्येक में अपने ढंग का सृष्टि सृजन है। अपने ढंग का संसार है।

जब हम सूर्य पर संयम करते हैं तो हमारी प्रकाशित प्रज्ञा और भी प्रखर व प्रदीप्त होती है। साथ ही संयम की ऊर्जा से अन्त:अस्तित्त्व व बाह्य अस्तित्त्व के समस्त द्वार खुलते हैं। तब हम गमन कर सकते हैं, इन विभिन्न भुवनों में। इन्हें जान सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। यहाँ तक कि उन भुवनों के वासियों से संवाद स्थापित कर सकते हैं। हाँ! यह सत्य है, योग साधना का सत्य, जो समाधि की अवस्था में स्पष्ट होता है। उसी अवस्था में इस अनुभव को समझा भी जा सकता है।

इस प्रसंग में एक बात यहाँ और कहनी है कि सूर्य पर संयम करने से न केवल चौदह भुवनों का ज्ञान होता है, बल्कि हमें असाधारण ऊर्जा की प्राप्ति होती है। इस असीमित एवं अपरिमित ऊर्जा के उपयोग तो अनेकों हैं, परन्तु उनमें से एक उपयोग लोक-लोकान्तरों में गमन भी है। विभिन्न भुवनों में गमन इस ऊर्जा के बिना सम्भव नहीं। इसलिए सूर्य पर संयम अनिवार्य है, प्रकृति के सत्य के बोध के लिए। इसके प्रत्येक आयाम का ज्ञान सूर्य संयम से सहज हो जाता है। जितना अधिक सूर्य पर संयम होगा, उतना ही खगोल व अन्त:भूगोल स्पष्ट होंगे।

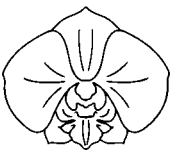

चन्द्रमा पर संयम से मिलती है अमरता

अन्तर्यात्रा विज्ञान अस्तित्व की परतें खोलता है और फिर परिचय कराता है प्रत्येक परत से। अन्तर्यात्रा की निरन्तरता में उभरते अनेक आश्चर्यों के साथ यह व्यापक बोध होता है कि कहीं कोई दूसरा नहीं है। जो है सब स्व के ही विविध आयाम हैं। सर्वत्र स्व का ही विस्तार है। यह अन्तर्यात्रा जारी रहती है, साथ में जारी रहता है अनुभवों व आश्चर्यों का सहचर्य। अपनी गहनता का गोपन गहराई में ये अनुभव एक दूसरे से पृथक् नहीं होते। इनमें जुड़ाव होता है, फैलाव होता है, विस्तार होता है निस्सीम, जिसमें पिण्ड व ब्रह्माण्ड एकाकार होते हैं। यह एकात्मता इतनी सघन होती है कि यह समझना कठिन होता है कि होने वाले ये अनुभव पिण्ड के हैं अथवा ब्रह्माण्ड के। जब बोध सम्पूर्ण होता है तो यही पता चलता है कि इनमें तो कभी कोई भेद था ही नहीं।

सूर्य जीवन की आत्मा है, जगत् का केन्द्र है। संयम यदि सूर्य पर किया जाता है, तो अन्तर्जगत् व बाह्य जगत् के सभी आयाम स्पष्ट होते हैं। तब कहीं कुछ नहीं रह जाता अप्रकट या अस्पष्ट। पिण्ड का प्रत्येक भेद, ब्रह्माण्ड का प्रत्येक भेद सहज ही पता चल जाता है। पुरा काल में जिन्होंने सूर्य पर संयम किया उन्होंने आत्म विद्या व सृष्टि विद्या के सभी रहस्य जान लिये। अध्यात्मवेत्ता इसी वजह से इन दोनों को अलग-अलग मानते ही नहीं। हाँ, आत्म विद्या विहीन भौतिक दृष्टि अवश्य आत्म-विद्या व सृष्टि-विद्या को

एकाकार-एकात्म नहीं देख पाती। लेकिन योग-विद्या के अध्येता, साधक जानते हैं कि जो आत्मवेत्ता है, वह सहज ही सृष्टिवेत्ता हो जाता है। और यह सब सम्भव होता है, सूर्य पर संयम करने से।

सूर्य संयम के बाद महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में चन्द्र संयम का परिणाम प्रकट करते हैं-

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥३/२७॥

शब्दार्थ= चन्द्र= चन्द्रमा में (संयम करने से); ताराव्यूहज्ञानम्= सब तारों के व्यूह (स्थिति विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

दृश्य जगत् में सूर्य व चन्द्रमा दो प्रकाश के केन्द्र हैं, स्रोत हैं। सूर्य दिवस को प्रकाशित करता है तो चन्द्रमा रात्रि को। सूर्य जीवन को प्राण ऊर्जा से भरता है तो चन्द्रमा उसे रस से पोषित करता है। जो अनुभवी हैं वे कहते हैं कि सूर्य व चन्द्रमा दो नहीं हैं, एक हैं। इनमें आन्तरिक एकता है। प्रकाश का, ऊर्जा का, प्राण का वास्तविक स्रोत तो सूर्य ही है, चन्द्रमा तो सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होता है। इस सत्य के साथ यह सच भी जुड़ा हुआ है कि चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश, प्राण व ऊर्जा को रूपान्तरित करके उसमें अपना अमृत रस घोल करके प्रक्षेपित करता है। इसीलिए अध्यात्मवेत्ताओं ने सूर्य को आत्मा व चन्द्रमा को मन कहा है। आत्मा ही मन का आधार है। आत्मा से मन अस्तित्त्व पाता है, प्रकाशित होता है फिर भी आत्मा की शक्तियाँ मन के माध्यम से बहुआयामी, बहुरंगी संसार का सृजन करती है। संक्षेप में कहें तो आत्मा स्रोत है और मन सौन्दर्य। ठीक यही बात सूर्य व चन्द्रमा के विषय में भी कही जा सकती है, सूर्य स्रोत है और चन्द्रमा सौन्दर्य। सूर्य की शक्तियों को चन्द्रमा सौन्दर्यपूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति देता है। इसी वजह से कवियों ने चन्द्रमा को कलाधर भी कहा है।

सूर्य केन्द्र - सोलर प्लेक्सेस की बात योग विज्ञान में प्राय: कही-सुनी जाती है। सूर्य केन्द्र की ही भांति शरीर में चन्द्र केन्द्र भी है। यह नाभि से ठीक नीचे है, नाभि से दो इंच नीचे इसकी उपस्थिति मिलती है। जापानी लोग इसे हारा कहकर पुकारते हैं। जापानी लोगों का यह शब्द एकदम ठीक है। इसीलिए तो वे आत्महत्या को हाराकिरी कहते हैं। हाँ, यह चन्द्र केन्द्र मृत्यु का केन्द्र है, ठीक उसी तरह जैसे सूर्य केन्द्र जीवन का केन्द्र हे। पूरा का पूरा जीवन सूर्य से आता है, ठीक वैसे ही मृत्यु चन्द्र केन्द्र से आती है। रूसी आध्यात्मवेत्ता

गुरजिएफ कहते थे कि मनुष्य चन्द्रमा का भोजन है। बात बड़ी अटपटी है, न समझी जा सके ऐसी बात। इसे सुनकर समझ में नहीं आता आखिर गुरजिएफ कहना क्या चाहते हैं, लेकिन गहराई में सोचें तो उनका यह कथन महर्षि पतंजलि के नजदीक है। गुरजिएफ का कहना था अस्तित्त्व की इकोलॉजी में हर चीज एक दूसरे के लिए भोजन बन जाती है। हम कुछ खाते हैं तो हम भी किसी दूसरे के द्वारा खाए जाएँगे। ऐसा नहीं हो तो अस्तित्त्व खतरे में पड़ जाएगा। मनुष्य अन्न या फल खाता है, फल सूर्य की ऊर्जा को, पृथ्वी को, पानी को ग्रहण करता है। मनुष्य की बारी भी आएगी किसी न किसी के द्वारा खाए जाने की। मनुष्य को कौन खाएगा? जवाब में गुरजिएफ का कहना था कि चन्द्रमा मनुष्य को खाएगा।

कैसे? यह विज्ञान पतंजलि बताते हैं। उनका कथन चन्द्रमा पर संयम करने से तारों-नक्षत्रों की समग्र व्यवस्था का ज्ञान होता है। ये तारे-नक्षत्र बाहर अन्तरिक्ष में हैं तो हमारे अपने शरीर में प्राण के विभिन्न केन्द्रों के रूप में हैं। प्रत्येक प्राण केन्द्र एक तारा है, नक्षत्र है। जो चन्द्र केन्द्र पर संयम करे वह भली प्रकार जान लेता है प्राण केन्द्रों को और उनकी संचालन व्यवस्था को। इस प्राण व्यवस्था की धुरी है चन्द्र केन्द्र, वही जिसे जापानी हारा कहते हैं। अगर हारा पर जोर से चोट की जाय तो आदमी की मृत्यु हो जाएगी। बाहर से देखने पर खून की एक बूंद भी न टपकेगी और आदमी मर जाएगा। मजे की बात यह कि उसे कोई तकलीफ भी न होगी। इसीलिए जापानी लोग हारा-किरी के द्वारा आत्महत्या करते हैं। उनके जैसा यह काम कोई और नहीं कर सकता। वे चाकू को हारा केन्द्र में घोप लेते हैं। वे भली प्रकार जानते हैं कि हारा केन्द्र कहाँ है। उन्हें मालूम है, हारा केन्द्र कहाँ है, और ठीक किस जगह पर चाकू मारना है और वे मर जाते हैं। शरीर से आत्मा का तादात्म्य टूट जाता है।

ताओ का पूरा विज्ञान, योग की सारी साधनाएँ इसीलिए हैं कि चन्द्र केन्द्र क्रियाशील हो, पूर्णतया सक्रिय हो। ताओ हो या तंत्र अथवा योग, बाहर की सूर्य ऊर्जा को, भीतर की सूर्य ऊर्जा को चन्द्र केन्द्र पर लाना चाहते हैं। ये सभी चन्द्र केन्द्र पर कार्य करके उसे अधिकाधिक ग्रहणशील और चुम्बकीय बनाते हैं ताकि सूर्य ऊर्जा को अपनी ओर खींच ले। वैसे तो योग सूर्य विधि है और ताओ तथा तंत्र, चन्द्र विधियाँ है लेकिन सभी के कार्य एक जैसे हैं। योग के सारे

आसन सूर्य ऊर्जा को चन्द्र केन्द्र की ओर प्रवाहित करने में सहयोग करते हैं जबकि ताओ व तंत्र, चन्द्र केन्द्र को इतना अधिक चुम्बकीय बना देते हैं जिससे सारी सूर्य ऊर्जा अपने में खींच कर उसे रूपान्तरित कर दे। अगर व्यक्ति संयम को चन्द्र केन्द्र पर ले आए तो, वह अपनी देह के भीतर के सभी नक्षत्रों यानि कि प्राण केन्द्रों को जान सकता है। दरअसल व्यक्ति जब सूर्य केन्द्र पर केन्द्रित होता है तो वह इतना उत्तेजित, इतना उत्तप्त हो जाता है कि उसे कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता, उसे स्पष्टता उपलब्ध नहीं होती। स्पष्टता उपलब्ध करने के लिए पहले चन्द्र केन्द्र तक आना होता है। ऊर्जा रूपान्तरण में चन्द्र केन्द्र एक विराट् घटना का कार्य करता है।

आकाश में भी चन्द्रमा को ऊर्जा सूर्य से ही मिलती है, फिर चन्द्रमा सूर्य की रोशनी को ही प्रतिबिम्बित करता है। उसकी अपनी स्वयं की ऊर्जा या रोशनी तो होती नहीं, फिर भी चन्द्रमा सूर्य की रोशनी की गुणवत्ता को पूरी तरह से बदल देता है। चन्द्रमा की तरफ देखने पर शान्ति व शीतलता की अनुभूति होती है, जबकि सूर्य की ओर देखने से उत्तेजना छाने लगती है। इसलिए चन्द्रमा पर संयम, चन्द्र केन्द्र पर एकाग्रता ऊर्जा को रूपान्तरित करती है। इसके द्वारा न केवल प्राण केन्द्रों के व्यूह का ज्ञान होता है, बल्कि प्राण प्रवाह को परिवर्तित रूपान्तरित किया जा सकता है। चन्द्रमा का एक नाम सोम है यानि कि अमृत। इसका अर्थ है साधना की चन्द्र विधियाँ, मरण को जीवन में परिवर्तित करती हैं, अमरत्व का वरदान देती हैं। अगर चन्द्र पर संयम की प्रक्रिया जारी रहे तो सचमुच अमरत्व की उपलब्धि होती है। यह अमरत्व देह तक सीमित नहीं रहता, बल्कि इससे सम्बोधि का, बुद्धत्व का वरदान मिलता है। बुद्ध पूर्णिमा की रात्रि को ही सम्बोधि को उपलब्ध हुए थे। यह सम्बोधि ही सच्चा अमरत्व है, परम विश्रान्ति भी जो चन्द्र पर संयम करने का यथार्थ सुफल है।

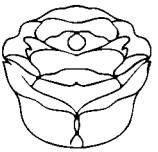

ध्रुव तारे पर संयम से होता है नक्षत्रों का ज्ञान

वर्तमान में जो जीवन हम जी रहे हैं वह आधा-अधूरा व अपूर्ण है। यही वजह है कि सभी में अपने अधूरेपन को पूरा करने की कशिश व कोशिश दिखाई देती है। हर एक को अनुभूति होती रहती है अपनी अपूर्णता की। परन्तु इसके सही स्वरूप व प्रयास की सही दिशा से प्राय: सब के सब अपरिचित हैं। इसी कारण इस अधूरेपन को दूर करने के प्रयास जितने तीव्र होते हैं, अपूर्णता की तृषा उतनी ही बढ़ जाती है। ऐसा होता है केवल सही दिशा व सही विधि का बोध न होने के कारण। इस सम्बन्ध में जो प्रयास किए जाते हैं उनकी यात्रा बाह्य होती है। इसके लिए प्रयोग में लाया जाने वाला विज्ञान भी बाहरी होता है। कहने का अर्थ यह है कि सम्पूर्ण प्रयास बाह्य यात्रा विज्ञान की दिशा व दायरे में किए जाते हैं, जबकि जरूरत इस उलटे को उलट कर सीधा करने की है। बाह्य यात्रा विज्ञान को अन्तर्यात्रा विज्ञान में परिवर्तित किया जाना है। भौतिक विज्ञान को अध्यात्म विज्ञान में रूपान्तरित होना है।

इस योगकथा में बतायी गयी विधियों ने हमें सतत व निरन्तर बोध की ओर अग्रसर किया है। विधियाँ भले ही अनेक रही हों, परन्तु उनकी दिशा हमेशा एक रही है। मन का प्रतीक है चन्द्रमा। मन चंचल हो तो इसे अस्थिरता, चिन्ता व अवसाद-विषाद घेरे रहते हैं। पुराणों की भाषा में कहें तो चन्द्रमा की स्थिति पर राहु की विषैली छाया का ग्रहण है। इसके विपरीत

यदि मन स्थिर हो तो जीवन में स्थिरता, शान्ति, प्रसन्नता का अमृत प्रसाद मिलता है। चन्द्रमा की ऐसी स्थिति को ही पुराणों में सोम या अमृत कहा गया है। कथा प्रतीक जो भी हो, पर सारा जोर रूपान्तरण पर है। मन के रूपान्तरण से ही योग की साधना सिद्ध होती है।

इसके बाद महर्षि पतंजलि संयम के अगले क्रम को स्पष्ट करते हैं। उनके अगले सूत्र में इसी सत्य को दर्शाया गया है-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ ३/२८॥

शब्दार्थ= ध्रुवे= ध्रुवतारा में (संयम करने से); तद्गतिज्ञानम्= उन तारों की गति का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= ध्रुव नक्षत्र पर संयम करने से तारों-नक्षत्रों की गतिमयता का ज्ञान प्राप्त होता है।

स्थिरता का प्रतीक है ध्रुवतारा। पुराण कथाएँ भी इसे इसी रूप में निरूपित करती हैं। पुराणों में भक्त ध्रुव की कथा मिलती है। महाराज उत्तानपाद एवं उनकी रानी सुमति के पुत्र जिन्हें अपनी विमाता सुरूचि के कोप का शिकार होकर पिता के प्रेम व उनकी गोद से वंचित होना पड़ा। पीड़ित ध्रुव ने अपनी व्यथा माता से कही। उनकी भक्तिमती माता ने उन्हें भक्ति का उपदेश देते हुए कहा- पुत्र! इस संसार में मिलने वाले सभी तरह के प्रेम व पद अस्थिर हैं। शाश्वत व स्थिर है तो केवल भगवत्प्रेम व भगवत्कृपा का पद। इस अनिश्वर पद को पाने के लिए बालक ध्रुव वन की ओर चल पड़े। वहाँ उन्हें देवर्षि नारद का मार्गदर्शन मिला। इस मार्गदर्शन के अनुरूप उन्होंने कठिन तप किया। उनके तप व भक्ति के प्रभाव से भगवान् श्रीहरि प्रसन्न हुए। वरदान में उन्होंने ध्रुव को लौकिक जीवन में स्थिर राज्य व मृत्यु के उपरान्त स्थिर नक्षत्र लोक प्रदान किया। यह नक्षत्र लोक उन्हीं के नाम से ध्रुव नक्षत्र कहलाया। उनके स्थिर संकल्प की ही भांति उनका नक्षत्र लोक भी स्थिरता का प्रतीक बन गया।

बड़ा प्रतीकात्मक सत्य है हमारे अपने अन्तर्जीवन का यह। हमारे अपने भीतर कुछ ऐसा खोज लेना है जो गतिविहीन हो, जो पूर्णतया स्थिर हो। वही हमारा सच्चा स्वभाव है, हमारा वास्तविक अस्तित्त्व व सच्चा स्वरूप है- ध्रुव तारे जैसा पूर्णरूपेण गतिविहीन। जहाँ गति नहीं होती, वहीं शाश्वतता होती है। जब गति होती है तो समय भी होता है। सारी गतिशीलताओं का प्रारम्भ भी और

अन्त भी। उनका जन्म भी है और मृत्यु भी। लेकिन यदि किसी तरह की गति नहीं हो, तो न प्रारम्भ है और न अन्त; न जन्म है न मरण। हमारे भीतर का यह ध्रुवतारा स्वयं का साक्षी भाव है। इसी साक्षी भाव पर संयम करना है।

संयम के क्रम में उच्च स्थिति है यह। इस तक पहुँचने के लिए पहले अपना संयम सूर्य ऊर्जा पर ले जाना होता है क्योंकि प्राय: व्यक्ति जैविक ऊर्जा पर जीता है। वहीं पर वह स्वयं को खोज सकता है। इस पर संयम करके सूर्य ऊर्जा को चन्द्र ऊर्जा में रूपान्तरित करना है। शीतल, एकाग्रचित्त व शान्त होते जाना है। सभी तरह की उत्तेजनाओं, उत्ताप को विदा करना है। ऐसा होने पर ही अन्तर आकाश को देखा जा सकता है। इस स्थिति में पहुँचने पर यह जानने की आवश्यकता होती है कि कौन है देखने वाला, द्रष्टा। इस ज्ञान से पता चलता है कि जो इन सबको देखा है वही है ध्रुवतारा। सर्वथा स्थिर, द्रष्टा व साक्षी।

यह ठीक है कि जीवन गतिशील है। व्यवहार, भाव, विचार सभी में गतिमयता है। न तो एक कार्य सदा किया जाना सम्भव है, विचारों में भी स्थायित्व नहीं है। भावदशाएँ भी हमेशा एक जैसी नहीं रहतीं। भाव दशाओं में गतिशीलता कुछ ज्यादा ही है। इसीलिए तो इन्हें अंग्रेजी में इमोशन्स कहा गया है। इमोशन्स आया है मोशन से, यानि गति से। वे गतिशील रहती हैं, मोशन में रहती हैं, इसलिए तो इन्हें इमोशन्स कहा जाता है। भावों में बदलाव सतत है। कभी उदासी तो कभी प्रसन्नता, कभी क्रोध तो कभी करूणा, कभी प्रेम तो कभी घृणा। लेकिन यह हमारा स्वभाव नहीं है। इन परिवर्तनों के पीछे कोई तो ऐसा अवश्य है जो इन्हें थामे रहता है। जैसे कि किसी माला में पिरोये गए फूल तो दिखाई देते हैं, पर धागा नहीं दिखाई देता। हालांकि यही धागा सारे फूलों को एक साथ जोड़े रखता है। हमारे जीवन की सभी गतियाँ फूलों की भांति हैं। इन्हें थामने वाला धागा है, हमारा साक्षी भाव, यही ध्रुवतारा है।

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि संयम यदि ध्रुवतारा पर किया जाय तो तारों, नक्षत्रों की गतिमयता का ज्ञान होता है। ध्यान रहे महर्षि का यह सूत्र अपने पिछले सूत्र से जुड़ा है। यह पिछला सूत्र है चन्द्र पर संयम करने से तारों, नक्षत्रों की समग्र व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। तो पहले व्यवस्था का ज्ञान, तत्पश्चात इस व्यवस्था की क्रियाशीलता का या गतिमयता का ज्ञान। गति का अनुभव केवल उसी चीज के परिप्रेक्ष्य में हो सकता है जो स्थिर हो। अगर कुछ भी स्थिर

न हो तो गतिशीलता को जाना नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए पृथ्वी निरन्तर घूम रही है। लेकिन हममें से किसी को उसकी गति का कोई अहसास नहीं है क्योंकि अन्य सब कुछ भी तो उसी के साथ गतिशील है। पृथ्वी की गतिशीलता का तो तब पता चला जब उसे सूर्य की स्थिरता के परिप्रेक्ष्य में अनुभव किया गया। इसी तरह की सभी गतियाँ भी साक्षी भाव के परिप्रेक्ष्य में ही जानी समझी जा सकती हैं।

स्वयं के अन्तर आकाश में स्थित ध्रुवतारे यानि कि साक्षी भाव पर संयम करने से व्यवहार, भाव, विचार की सूक्ष्मताएँ ही नहीं, प्राण प्रवाह, कर्म प्रवाह सहित सभी गतियों को जाना जा सकता है। इनकी प्रक्रिया व परिणाम जाने जा सकते हैं। ऐसा होने पर इनमें फेर बदल भी सम्भव है। योग की विविध तकनीकों द्वारा इनके तत्त्व को अनुभव किया जा सकता है। जीवन की व्यवस्था का ज्ञान, उसकी गतिशीलता का ज्ञान यदि अनुभव हो सके तो उसमें फेर-बदल करने वाली प्रक्रियाएँ भी खोजी जा सकती हैं। बन्धनों के सम्यक् ज्ञान से बन्धन मुक्त होने का ज्ञान भी सम्भव है। अज्ञान के कारणों की खोज यदि सम्यक् ढंग से की जाती है तो ज्ञान के कारण भी जाने जा सकते हैं। इस दृष्टि से ध्रुव तारे पर संयम का बड़ा महत्त्व है क्योंकि इस पर संयम करने से जीवन व्यवस्था के सभी रहस्य स्वत: उद्घाटित हो जाते हैं। इसकी प्रत्येक समस्या अपने आप पता चलती है, साथ ही समाधान के द्वार भी स्वत: ही खुल जाते हैं।

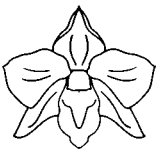

नाभि चक्र पर संयम से होता है जीवन का सम्यक् ज्ञान

जीवन जितना दृश्य है, वह बस सतही सामान्य कलेवर भर है। इसे देखने पर परिचय तो प्राप्त होता है, लेकिन इसके आधार पर सत्य को परिभाषित नहीं किया जा सकता। सत्य को समझने के लिए गहरे उतरने की जरूरत है। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों व प्रक्रियाओं को अधिक प्रगाढ़ व परिपक्व करने की आवश्यकता है।

इनकी गहराई बढ़ने के साथ ही परत-दर-परत, नए-नए सत्यों का सामना होता है। जीवन की, चेतना की नयी-नयी परतें खुलती हैं। नये द्वार, नये आयाम खुलते हैं जो स्पष्ट करते हैं कि दृश्य के पीछे अदृश्य सच्चाई कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे समझे बिना ज्ञान का ढांचा अधूरा है, अपूर्ण है। इस अधूरेपन व अपूर्णता को लेकर गढ़ी गयी परिभाषाएँ भी अधूरी व अपूर्ण बनी रहेंगी।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की कई तरह से सराहना की जाती है। इसकी कुछ बातें सराहनीय हैं भी। लेकिन इसके ढाँचे में, इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था में भारी अपूर्णता है। तथ्य पर विचार करें तो सत्य समझ में आ जाता है, आधुनिक चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थी अपना सारा ज्ञान मृत शरीर के आधार पर अर्जित करते हैं, हालांकि अपने इस अर्जित ज्ञान को वह आजमाते जीवित शरीर पर हैं। मृत शरीर जैव ऊर्जा, प्राण ऊर्जा, विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा, मनो ऊर्जा एवं भाव ऊर्जा के विविध आरोह-अवरोध से रहित होता है, जबकि जीवित शरीर इन

सभी से पूर्णतया परिपूर्ण होता है। शरीर में होने वाली बीमारियाँ, मानसिक रोग इन ऊर्जा प्रवाहों की विविधता में होने वाले व्यतिक्रम से पनपते हैं। यदि चिकित्सक में इन सभी के सम्यक् ज्ञान का अभाव है तो उसकी चिकित्सा अपूर्ण ही तो कही जाएगी।

योग विज्ञान में तारे व नक्षत्र जीवन के, ऊर्जा की विविधता के विभिन्न केन्द्र हैं। इनका ज्ञान होने से न केवल जीवन को सही ढंग से जाना जा सकता है, बल्कि उसका सम्यक् रीति से सदुपयोग भी किया जा सकता है। उदाहरण के लिए जिन्होंने अपनी आँखों में जीवन केन्द्र को सम्पोषित किया है, वे अगर किसी की तरफ देख लें तो ऐसा लगेगा, जैसे आशीष बरस गए हों। ऐसे व्यक्ति के देखने से सामने वाला व्यक्ति आनन्द से भर जाता है। उसकी दृष्टि से जीवनदायी अमृत बरसता है।

इसी क्रम में महर्षि पतंजलि नाभिकेन्द्र के महत्त्व को प्रकट करते हैं-

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ ३/२९॥

शब्दार्थ= नाभिचक्रे= नाभिचक्र में (संयम करने से); कायव्यूहज्ञानम्= शरीर के व्यूह (उसकी स्थति) का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= नाभिचक्र पर संयम सम्पन्न करने से शरीर की सम्पूर्ण संरचना का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सूत्र है यह। नाभि सम्पूर्ण शरीर का केन्द्र है। इसी के द्वारा व्यक्ति को माँ के गर्भ में पोषण मिलता है। गर्भ के नौ महीनों में केवल नाभि केन्द्र द्वारा पोषण पाकर बच्चा जीवित रहता है। अपने गर्भकाल में बच्चा नाभि के माध्यम से जुड़ा रहता है। यही उसके जीवन का स्रोत व सेतु होता है। जन्म के बाद नाभि केन्द्र से जुड़ी रज्जु काट दी जाती है। तब बच्चा अपनी माता से अलग होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व पाता है। जन्म के बाद इस नाभिकेन्द्र की महत्ता समाप्त हो जाती हो, ऐसा नहीं है। इसका महत्त्व तो यथावत बना रहता है, परन्तु लोग इसके उपयोग-सदुपयोग की बात भूल जाते हैं।

अन्तर्यात्रा विज्ञान में, योग के साधना क्रम में नाभि केन्द्र पर संयम करके शरीर संरचना का ज्ञान पाया जाता है। शरीर की संरचना जितनी जटिल है, उतनी ही रहस्यपूर्ण। बहुत कोमल व नाजुक होता है मानव शरीर। इसमें लाखों-लाख कोशिकाएँ एवं हजारों नस-नाड़ियाँ होती हैं। इन सभी की बड़ी सम्यक्,

विचित्र व स्वचालित व्यवस्था है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक समुदाय ने बड़ी जटिल यन्त्र व्यवस्थाओं का निर्माण कर लिया है। लेकिन यदि इसकी तुलना शरीर से की जाय तो वे कुछ भी नहीं हैं। भविष्य में ऐसी कोई सम्भावना भी नहीं है कि मानव निर्मित कोई ऐसी यन्त्र व्यवस्था हो पाएगी, जो इतनी कुशलता से, स्वचालित व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य कर सके। सचमुच मनुष्य का शरीर प्रकृति का सबसे बड़ा चमत्कार है, जो अनवरत अस्सी साल तक, सौ साल तक, यदा-कदा तो इससे कहीं ज्यादा भी अपने आप क्रियाशील बना रहता है।

नाभिकेन्द्र को समझ लेने से शरीर की इस अद्‌भुत व्यवस्था को जाना जा सकता है। शरीर का हर अंग कुछ इस ढंग से बना है, जो स्वयं में पूर्ण है। उदाहरण के लिए भोजन, जब हमें भूख लगती है, जब हमारा पेट भर जाता है, वैसे ही हमें संकेत मिल जाता है। शरीर भोजन का पाचन करता है, इससे ही रक्त, हड्डी, मांस, मज्जा का निर्माण होता है। यही नहीं, इस प्रक्रिया में जो व्यर्थ के पदार्थ एवं विषाक्तता होती है, उसे शरीर बाहर फेंक कर अपने को स्वच्छ कर लेता है। शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं में एक निरन्तरता है। हर पल न जाने कितनी कोशिकाएँ मरती हैं, अनगिन नयी कोशिकाओं का नव निर्माण होता है। ये सभी कार्य स्वचालित ढंग से, सुव्यवस्थित रीति से किए जाते हैं। मनुष्य यदि जीवन के सहज स्वभाव का अनुसरण करे तो शरीर स्वयं में बहुत ही सुन्दर एवं सुव्यवस्थित रीति से कार्य करता रहता है।

नाभिकेन्द्र के द्वारा शरीर की न केवल स्थूल संरचना को बल्कि सूक्ष्म संरचना को भी जाना जाता है। योग विज्ञान ने शरीर विज्ञान को इसी ढंग से जाना है। योग का शरीरविज्ञान अन्तर्यात्रा विज्ञान से प्रकट हुआ है। इसे किसी पोस्टमार्टम के आधार पर नहीं जाना गया। वैसे भी मृत व्यक्ति का सच, जीवित व्यक्ति के सच से पर्याप्त भिन्न होता है। योग में अन्तर्जगत के माध्यम से शरीर विज्ञान की प्रक्रियाओं का जाना गया है। योग के द्वारा शरीर विज्ञान को जीवन की जागरूकता और होश के माध्यम से आविष्कृत किया है। यही वजह है कि अनेकों बातें ऐसी हैं, जिनकी बात योग करता है, आधुनिक शरीर विज्ञान उससे सहमत नहीं है क्योंकि; आधुनिक शरीर विज्ञान मृत व्यक्ति की लाश के आधार पर सारे निर्णय लेता है जबकि योग विज्ञान का सीधा सम्बन्ध जीवन से है।

बात विचार करने की है। विद्युत प्रवाह जिस समय तार से होकर गुजर रहा है, उस समय यदि तार को काटा जाय तो वह अनुभव अलग होगा। लेकिन यदि विद्युत् प्रवाह तार से नहीं गुजर रहा हो, उस समय तार के कटने पर अनुभव अलग होगा। इन दोनों अनुभवों में पर्याप्त भिन्नता होगी। मुरदा शरीर की चीरफाड़ बड़ी आसानी से की जा सकती है। जीवित शरीर की चीरफाड़ इस तरह से सम्भव नहीं है क्योंकि इस तरह की चीरफाड़ हुई तो शरीर मर जाएगा। इसलिए भविष्य में ऐसी सम्भावना है कि आधुनिक वैज्ञानिक योग विज्ञान के अन्तर्यात्रा विज्ञान के अनुसन्धान से सहमत हो जाएँ। क्योंकि शरीर को यदि सही रीति से जानना हो तो उसे उसी समय जाना जा सकता है, जब उसमें सभी तरह का ऊर्जा प्रवाह अपनी सम्यक् अवस्था में संचालित हो रहा हो। यह सत्य केवल स्वयं में उतर कर जाना जा सकता है।

नाभिकेन्द्र पर संयम करके इसे सम्भव बनाया जा सकता है। इस प्रकार के संयम से उस क्षण का भी यथार्थ ज्ञान मिल सकता है जब गर्भ निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। उस क्षण के बाद से शरीर के विकास की निरन्तरता, अंग-अवयवों का निर्माण, ऊर्जा प्रवाहों की विविधता, इसमें आने वाले व्यतिक्रम, व्यतिरेक, फिर इनके समाधान सभी कुछ का ज्ञान सम्भव है। इतना ही क्यों ? नाभिचक्र को यदि सही ढंग से सक्रिय व संचालित कर लिया जाय तो शरीर फिर से प्रकृति से पोषण पा सकता है।

जो जीवन के सत्य को जानते हैं, जिन्हें योगविद्या, अन्तर्यात्रा विज्ञान का अनुभव है, उन्हें यह भी पता है कि नाभिचक्र सबसे पहले जीवन का, जीवात्मा का, जन्मदायिनी माता से परिचय करता है, उससे पोषण की व्यवस्था जुटाता है। यह बात अलग है कि जन्म लेने के बाद हम सभी इसका महत्त्व भूल जाते हैं परन्तु बाद में जो इसका महत्त्व पहचान लेते हैं, जो नाभिचक्र पर संयम की विधि जान लेते हैं, वे पुनः माता से परिचय पा लेते हैं। अबकी बार यह माता जन्मदायिनी नहीं, जीवनदायिनी होती है। इसे स्वयं प्रकृति कहें या आदिमाता अथवा आदिशक्ति, नाभिचक्र के माध्यम से जीवन का पोषण करने लगती है।

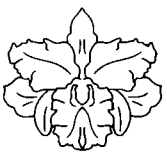

कण्ठ पर संयम से होता है क्षुधा पर नियंत्रण

अन्तर्यात्रा विज्ञान के आन्तरिक अन्वेषण अनोखे हैं। इन्हें जानने, समझने व प्रायोगिक अनुभव करने के लिए चाहिए जीवन की आन्तरिक संरचना का ज्ञान। जीवन केवल शरीर तक सिमटा नहीं है। इसमें अन्त:प्रकृति व बाह्य प्रकृति, सूक्ष्म व स्थूल तत्त्वों का अनूठा मेल है। जब तक इसे सही ढंग से अनुभव नहीं किया जाता तब तक जीवन की सम्यक् व सम्पूर्ण समझ सम्भव नहीं। अधिक क्या कहें यदि बात अकेले शरीर की करें तो वर्तमान विज्ञान उसे भी तो ठीक से नहीं समझ पा रहा। हड्डियों से लिपटी मांसपेशियों और उस पर चढ़े त्वचा के आवरण से ही शरीर का परिचय मिलता है। थोड़ा गहराई में इसे आन्तरिक अवयवों, रक्त का संचार करने वाली शिरा, धमनियों तथा स्नायविक जाल के रूप में जाना जाता है। इन सबके अलावा ग्रन्थियों, उपत्यिकाओं का आधा-अधूरा परिचय इसमें शामिल है। अन्तर्यात्रा विज्ञान, वर्तमान विज्ञान द्वारा दिए गए इस शारीरिक परिचय को सम्पूर्ण नहीं मानती।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के आन्तरिक अन्वेषण कहते हैं कि शरीर के विविध अंग-अवयवों की व्यवस्था के अतिरिक्त इसमें ऊर्जा के विविध प्रवाहों के परिभ्रमण व इनके आरोहों व अवरोहों की व्यवस्था है। विविध ऊर्जा प्रवाहों का यह परिभ्रमण परिपथ ही यथार्थ में शरीर की आन्तरिक संरचना है। यह संरचना मानव जीवन को बाह्य प्रकृति व अन्त:प्रकृति से तथा स्थूल को सूक्ष्म से जोड़ती

है। जीवन को असीमित सम्भावनाओं व दिव्य क्षमताओं का स्रोत बनाती है। अन्तर्यात्रा विज्ञान के आन्तरिक अन्वेषण इन सबको विकसित व अभिव्यक्त करते हैं। इनका प्रयोग यदि सही ढंग से किया जा सके तो जीवन को असंख्य गुना समर्थ, सक्षम व सफल बनाया जा सकता है। जो कार्य जीवन की सामान्य प्रक्रियाओं के द्वारा पूरी तरह से असम्भव है, उन्हें अन्तर्यात्रा विज्ञान सहज सम्भव बना देता है।

महर्षि पतंजलि एवं अध्यात्मविद्या के अन्य विशेषज्ञ नाभि केन्द्र की भूमिका को जीवन में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। इस केन्द्र पर संयम करके न केवल शरीर की सम्पूर्ण संरचना की जानकारी प्राप्त की जा सकती है बल्कि इसके माध्यम से जीवन को पोषित, सम्वर्धित भी किया जा सकता है।

इसी क्रम में महर्षि संयम के अन्य आयाम को परिभाषित करते हैं-

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३/३० ॥

शब्दार्थ= कण्ठकूपे= कण्ठ कूप में (संयम करने से); क्षुत्पिपासानिवृत्तिः= भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

भावार्थ= कण्ठ पर संयम करने से क्षुधा व पिपासा की अनुभूतियाँ क्षीण हो जाती हैं।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के ये आन्तरिक अन्वेषण हैं। योगविद्या के मर्मज्ञ मनीषी इस सत्य से अवगत थे कि यदि भूख लगती है, तो उसका अनुभव केवल पेट में नहीं होता। इसी तरह यदि प्यास अनुभव होती है तो उसका अनुभव केवल गले में नहीं होता। ये अनुभूतियाँ मस्तिष्क में होती हैं। मस्तिष्क से हमें इन अनुभूतियों का परिचय मिलता है। तब हम भूख व प्यास को दूर करने के लिए प्रयत्नशील होने लगते हैं। योग के प्रयोग में यह बात खोज ली गयी थी कि किसी सुनिश्चित केन्द्रों पर संयम करने से ये चीजें तिरोहित हो सकती हैं। इतना ही नहीं संयम के माध्यम से अन्तरिक्ष के सूक्ष्म ऊर्जा प्रवाह आवश्यक व अनिवार्य पोषण भी देने लगते हैं।

श्रीरामकथा में ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के प्रसंग में ऐसी ही एक चर्चा आती है। इसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी श्रीरामचरितमानस में किया है। यह कथा प्रसंग तब का है जब ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के आग्रह को स्वीकार करके अयोध्या नरेश महाराज दशरथ ने श्रीराम व उनके अनुज लक्ष्मण को महर्षि के

साथ भेज दिया। ब्रह्मज्ञानी त्रिकालदर्शी महर्षि श्रीराम व लक्ष्मण के जीवन क्रम से परिचित थे। उन्हें प्रभु की अवतार लीला का ज्ञान था। वह जानते थे कि श्रीराम व लक्ष्मण राजभवन में पले बढ़े हैं। लेकिन अपने अवतार कार्य हेतु इनका वनगमन अनिवार्य है। वन का अर्थ ही आपदा है। जीवन के सामान्य नियम वन में निभ नहीं सकते। वन में न तो भोजन का ठिकाना होता है और न पानी का।

भूख-प्यास की आवश्यकता भी वन के जीवन में संकट बन जाती है। इसीलिए जब ब्रह्मर्षि विश्वामित्र उन्हें अपने साथ ले गए तो उन्होंने श्रीराम व लक्ष्मण को योग के इन आन्तरिक अन्वेषणों से परिचित कराया। ताकि उन्हें भूख व प्यास परेशान न करें, साथ ही उनका शरीर स्वस्थ व तेजस्वी बना रहे। गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने इस प्रसंग को श्रीरामचरित मानस में कुछ इस तरह से उठाया है-

तब रिषि निज नाथहि जियं चीन्ही। विद्यानिधि कहुं विद्या दीन्ही।
जाते लाग न क्षुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा॥

तब ऋषि विश्वामित्र ने प्रभु को विद्या का भण्डार समझते हुए भी (लीला को पूर्ण करने के लिए) ऐसी विद्या दी, जिससे भूख-प्यास न लगे और शरीर में अतुलित बल व तेज का प्रकाश हो।

भूख व प्यास जीवन की ऐसी अनुभूतियाँ हैं, जो कष्ट भले ही दें, पर इन्हीं के माध्यम से अर्थात् भोजन व पानी को ग्रहण करने से शरीर को जीवन व पोषण मिल पाता है। यदि भूख-प्यास किसी कारणवश न लगे तो भोजन लेने व पानी पीने की चाहत भी न रहेगी। साथ ही शरीर को पोषण भी न मिल सकेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि शरीर दुर्बल व कुपोषित हो जाएगा। भूख व प्यास के अहसास तो एक रोगी को भी कम होते हैं, लेकिन ऐसा होने पर शरीर कमजोर होता चला जाता है।

महर्षि पतंजलि के योग अन्वेषण केवल क्षुधा पिपासा की निवृत्ति नहीं देते, बल्कि अन्तरिक्ष की प्राण ऊर्जा से उसके आवश्यक पोषण की व्यवस्था भी जुटाते हैं। कण्ठकूप केन्द्र शरीर का ऐसा ही केन्द्र है, जिस पर संयम करने से योगी भूख व प्यास की आवश्यकताओं से प्रायः मुक्त हो जाता है। साथ ही इस केन्द्र पर संयम के माध्यम से उसे जीवनदायिनी ऊर्जा भी मिलने लगती है जो

शरीर में तेजस्विता व बल का आवश्यक संचार भी करती है। इस प्रक्रिया को समझने व अपनाने वाले का शरीर भोजन व पानी के बिना भी स्वस्थ, निरोग, सबल व ऊर्जावान बना रहता है। इसी प्रक्रिया को पूर्ण करके योगीजन भूख व प्यास को अनुभव किये बिना न केवल दीर्घकालीन साधना करते थे, बल्कि स्वस्थ व बलवान भी बने रहते थे।

जैन धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर महावीर के बारे में भी ऐसा ही पढ़ने को मिलता है। वह कई बार तीन महीने, चार महीने तक निरन्तर उपवास करते थे। जब महावीर अपनी तप साधना में लीन थे, तो उस बारह वर्ष की अवधि में करीब ग्यारह वर्ष तक उन्होंने उपवास किया। इस अवधि में वह प्राय: भूखे-प्यासे रहे। उनके लिए कहा जाता है कि वह तीन महीने उपवास करते और फिर एक दिन थोड़ा आहार लेते थे, फिर एक महीने उपवास करते थे और फिर बीच में दो दिन भोजन लेते थे। इसी तरह से निरन्तर उनके उपवास चलते रहते थे। इस तरह बारह वर्षों में कुल मिलाकर उन्होंने एक वर्ष भोजन किया। इसका अर्थ हुआ बारह दिन में एक दिन का भोजन व ग्यारह दिन का उपवास। वे ऐसा कैसे करते थे? कैसे वे ऐसा कर सकते थे? यह बात प्राय: असम्भव ही मालूम होती है। आम आदमी के लिए असम्भव है भी। परन्तु योग के प्रयोग के द्वारा यह सम्भव है। कण्ठकूप केन्द्र पर संयम इसे सम्भव व सहज बना देता है।

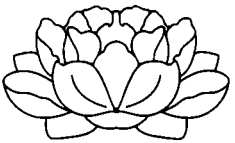

कूर्म नाड़ी पर संयम से मिलता है परम एकत्व

अनगढ़ को सुगढ़, अस्थिर को स्थिर, अपरिष्कृत को परिष्कृत बनाना सम्भव है। कई बार जीवन के जिन मुद्दों को आधुनिक विज्ञान अनसुलझा छोड़ देता है, अध्यात्म विद्या न केवल उन्हें सुलझाती है बल्कि संवार भी देती है। यह सब कुछ इतना स्पष्ट व आश्चर्यजनक ढंग से हो जाता है कि इसे देखने वाले अध्यात्मविद्या को चमत्कार मान लेते हैं। हालांकि इसमें चमत्कार जैसा कुछ भी नहीं होता। जिस तरह से विज्ञान स्थूल या निम्न प्रकृति को प्रकाशित व परिभाषित करता है, ठीक उसी तरह से अध्यात्म, सूक्ष्म या उच्च प्रकृति को प्रकाशित एवं परिभाषित करता है। निम्न प्रकृति की ही भांति उच्च प्रकृति के भी अपने नियम हैं। इनका भी प्रयोग एवं उपयोग सम्भव है। विज्ञान की ही भांति यहाँ भी अनुसन्धान की प्रक्रिया व प्रणाली सम्भव है। अन्तर्यात्रा विज्ञान ने इन्हीं सम्भावनाओं को साकार किया है।

भूख एवं प्यास शरीर के जैविक धर्म हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जब तक अपने इस शरीर में जीवन है, तब तक भूख व प्यास लगती रहेगी। इस भूख व प्यास पर थोड़ा बहुत नियंत्रण सम्भव है, लेकिन इनसे निवृत्ति सम्भव नहीं है। जो लोग व्रत-उपवास करते हैं वे कुछ दिन भूखे रह जाते हैं, हालांकि पानी उन्हें भी पीना पड़ता है। एकादशी, हरतालिका अथवा रविवार व्रत करने वाले लोग एक दिन बिना पानी के भी व्रत कर लेते हैं। लेकिन बस एक दिन अथवा दो

दिन। इससे अधिक बिना पानी पिये रह पाना सम्भव नहीं हो पाता। बाद में पानी पीना ही पड़ता है। उपवास या व्रत के दिनों में जब भोजन अथवा जल ग्रहण नहीं करते तब भी प्राय: इनकी आवश्यकता अनुभव होती रहती है। लेकिन जिनके पास कण्ठकूप पर संयम करने की प्रणाली है वे इस भूख व प्यास की अनुभूति तथा आवश्यकता के पार चले जाते हैं।

इस अनुसन्धान को प्रकट करने के बाद महर्षि पतंजलि संयम के एक अन्य आयाम को अभिव्यक्त करते हैं-

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३/३१॥

शब्दार्थ= कूर्मनाड्याम्= कूर्माकार (नाड़ी में संयम करने से); स्थैर्यम्= स्थिरता होती है।

भावार्थ= कूर्म नाड़ी नामक नाड़ी पर संयम सम्पन्न करने से, योगी पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है।

योगशास्त्र में भिन्न-भिन्न नाड़ियों की चर्चा की गयी है। किन्हीं-किन्हीं योगशास्त्रों में उनकी ७२,००० की संख्या का उल्लेख है। योगविद्या के विशेषज्ञों का मानना था कि इन्हीं ७२,००० नाड़ियों के द्वारा जीवन का संचालन होता है। इन नाड़ियों में जितने मलावरोध आ जाते हैं, जीवन उतना ही अवरुद्ध हो जाता है। यदि इन अवरोधों को सम्पूर्णता से हटा दिया जाय तो अपना यह जीवन ईश्वरीय चेतना की सम्पूर्ण व सार्थक अभिव्यक्ति का माध्यम बन जाता है। तभी तो सिद्ध योगी को ईश्वर का साकार स्वरूप समझने की हमारी सांस्कृतिक आध्यात्मिक परम्परा रही है। यहाँ पर जिस कूर्म नाड़ी का उल्लेख किया गया है, उसका स्थान कण्ठकूप के नीचे वक्ष:स्थल में बताया गया है। उस पर संयम करने से स्थिर स्थिति की प्राप्ति हो जाती है।

इसका कारण यह है कि कूर्म नाड़ी प्राण की, श्वास की वाहिका है। अगर हम शान्त भाव से अपने श्वसन पर ध्यान दें, किसी भी ढंग से श्वास की लय न बिगड़े, न तो श्वास तेज हो और न ही धीमी हो, बस उसे स्वाभाविक और शिथिल रूप से चलने दें- ऐसी स्थिति में अगर हम केवल श्वास को देखते रहें, तो धीरे-धीरे स्थिरता आने लगेगी। फिर अन्दर किसी तरह की हलचल, हलन-चलन न रह जाएगी। ऐसा इसलिए क्योंकि सभी तरह की हलचल या गति श्वास के द्वारा ही होती है। श्वास ही शरीर की सम्पूर्ण गति

का आधार है। इसी के द्वारा सारी हलचलों व सभी गतियों का संचार होता है। श्वास के रुकने पर व्यक्ति मर जाता है। फिर उसमें कोई हलचल नहीं रह जाती, वह हिल-डुल नहीं सकता।

अगर योगसाधक अनवरत श्वास पर संयम करता रहे, कूर्म नाड़ी पर ही केन्द्रित रहे, तो धीरे-धीरे एक ऐसी अवस्था अवश्य आ जाएगी, जहाँ श्वास की प्रक्रिया लगभग थम सी जाती है। कई योग साधक इस संयम प्रक्रिया को दर्पण के सामने सम्पन्न करते हैं। ऐसा करते हुए श्वास धीरे-धीरे इतनी शान्त हो जाती है कि श्वास चल रही है अथवा थम गयी है, इसकी प्रतीति भी नहीं हो पाती। कई बार योग साधक अपने ध्यान में इतने शान्त व स्थिर हो जाते हैं कि उन्हें मालूम ही नहीं पड़ता कि वे जिन्दा हैं अथवा नहीं। ध्यान की गहराई में यह अनुभव किसी के साथ घटित हो सकता है। इसमें डरने जैसी कोई बात नहीं है। जब चैतन्यता अपनी सम्पूर्णता में होती है तब श्वास लगभग रुक सी जाती है। इसमें भयभीत होने की कोई बात नहीं है। क्योंकि यह कोई मृत्यु नहीं है, यह तो बस शान्त अवस्था है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्राय: सभी प्रयोगों का प्रयास इसी बात के लिए है कि व्यक्ति को ऐसी गहन शान्त अवस्था प्राप्त हो सके। उसे ऐसी शान्ति मिले, जिसे कोई भी भंग न कर सके। चेतना ऐसी शान्त अवस्था को उपलब्ध हो जाय जिसे कोई भी भंग न कर सके। ऐसी अवस्था में ही जीवात्मा अपने स्वरूप को, परमात्मा के साथ एकत्व को प्राप्त कर पाती है।

इस सन्दर्भ में सूफी फकीर सरमद के जीवन की एक घटना है। यह घटना उस समय की है जब फकीर सरमद दीवानगी की हद में घूमा करते थे। परमात्मा के लिए उनकी यह दीवानगी इस हद तक बढ़ गयी थी कि लोगों ने उन्हें पागल समझ लिया था। एक बार उन्होंने रास्ते चलते एक दुकान पर जाकर एक व्यापारी से पूछा; तुम दिन भर सुबह से लेकर देर रात तक यहाँ किसलिए बैठे रहते हो ? पहले तो व्यापारी ने उन्हें पागल समझकर अनसुना कर दिया। जब उन्होंने अपना सवाल कई बार दुहराया तो दुकानदार ने कहा- लाभ कमाने के लिए।

हँसते हुए सरमद ने पूछा- यह लाभ क्या होता है ?

लाभ कमाने का मतलब है एक के दो बनाना, व्यापारी ने उनसे कहा।

तब सरमद बोले, भला यह भी कोई लाभ हुआ ? लाभ तो तब है जब तुम दो का एक कर दो।

व्यापारी को उनकी यह बात समझ न आयी। वह गुस्से में बोला- यह कैसा लाभ हुआ ? यह तो सरासर घाटा है।

सरमद हँसे और बोले- अरे यही तो लाभ है।

अबकी बार व्यापारी झल्लाकर बोला- ऐसी उल्टी बातें करते हो तभी तो लोग तुमको पागल कहते हैं। चलो भागो यहाँ से।

सरमद ने जोर का ठहाका लगाया और चल दिए वहाँ से। लोगों को पागल दिखने वाले सरमद असाधारण प्रज्ञा पुरुष थे। उनके कथन में सच्चाई थी। सचमुच ही जीवन का लाभ तभी है, जब दो का एक हो जाय। लाभ तभी होता है, जब सारे द्वैत गिर जायें और बस केवल एक बचा रह जाए।

यह परम एकत्व ऐसी शान्त स्थिर अवस्था में ही सम्भव हो पाता है। कूर्म नाड़ी पर संयम करने से ऐसी विलक्षण अवस्था प्राप्त होती है। इसी अवस्था में सम्भव हो पाता है योग। यह योग एक और एक मिलाकर दो करने वाला योग नहीं है। इसमें तो एक और एक मिलकर फिर से एक बन जाते हैं। विलक्षण जोड़ है यह। विलक्षण है इसकी गणित। जिसे केवल साधक समझते हैं, संसारी नहीं। तभी तो उस योग को 'यूनिओ मिस्टिका' कहते हैं। परम एकता है यह, जो कूर्म नाड़ी पर संयम करने से प्राप्त होती है। इस परम एकता से प्राप्त परम लाभ को सूफी सरमद जैसे पागल ही समझ पाते हैं, व्यापारी जैसे चतुर चालाक नहीं।

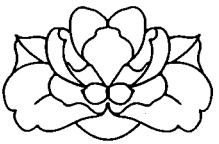

ब्रह्मरंध्र पर संयम से होता है ब्रह्मज्ञानियों का ज्ञान

जीवन उतना ही नहीं है, जितना कि हमारी आँखें देख पाती हैं और बौद्धिकता, तार्किकता जितना समझ पाती है। जो दृश्य है उसके पार व परे भी बहुत कुछ है। भले ही उसे हमारे चर्म चक्षु न देख सकें, हमारी बुद्धि उसे अदृश्य कहे, फिर भी यह अदृश्य उतना ही सत्य है, जितना कि दृश्य। परमेश्वर की अनन्तता के अनुरूप जीवन व जगत् भी अनन्त है। इसकी कड़ियाँ जितनी दृश्य जगत् में हैं, उतनी ही अदृश्य जगत् में। अपनी सामान्य चेतना में मनुष्य इसे समझ नहीं पाता। किसी के कहने-बताने पर उसको अनसुनी-अनदेखी कर देता है। समझदार कहे जाने वाले भी प्राय: यह नासमझी करते देखे जाते हैं। बुद्धिमानों में भी यह बुद्धिहीनता देखी जा सकती है। बुद्धिमानों की इस बुद्धिहीनता को, समझदारों की इस नासमझी को दूर करने का बस एक ही उपाय है, अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग।

इस महाविज्ञान के प्रयोग मानव चेतना को विस्तार देते हैं। दृश्य व अदृश्य का सुखद संयोग कराते हैं। तब होता है अनुभूतियों का विस्तार, हो पाती है अनुभवों की व्यापकता। फिर दृश्य की भांति ही अदृश्य भी अनुभव होने लगता है। मन की देहरी लांघने के बाद यह असम्भव सहज सम्भव होता है। ऐसे में धरती का जीवन व जगत् ही नहीं अन्य लोकों का जीवन व जगत् भी अपना बनता है। संवाद के अवसर मिलते हैं, भेंट-मुलाकातों का सिलसिला चलता

है। भूत-प्रेत-पिशाचों के किस्से तो प्राय: सुने जाते हैं। सूक्ष्म में तनिक सा भी प्रवेश इनके अस्तित्त्व से हमारा परिचय करा देता है। यह कार्य गांव, गली में भटकने वाले ओझा-तांत्रिक भी कर लेते हैं। इसे योग साधना से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। अन्तर्यात्रा विज्ञान अथवा योग विज्ञान के परिणाम, साधक का संवाद सिद्धों से कराते हैं। दिव्य लोकों के महर्षियों से भेंट मुलाकात का अवसर प्रदान करते हैं।

इस योग कथा में योग के ऐसे ही एक प्रयोग की चर्चा की गयी है। इसमें कहा गया है- कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है। यह स्थिरता योग की उच्च अनुभूतियों के लिए आवश्यक है। जब तक तन-मन अस्थिर है, तब तक योग की उच्च कक्षा में प्रवेश सम्भव नहीं है। अस्थिरता की दशा में अन्तर्चेतना की उच्च कक्षा की आहटें सुनायी नहीं देतीं। सच यही है कि अस्थिरता उच्च अनुभूतियों में बाधा है। इस बाधा को योगी कूर्माकार नाड़ी में संयम करके पूरा कर लेता है। अपने संयम की प्रगाढ़ता के अनुरूप योगी पूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है। स्थिरता प्राप्त होने के बाद सम्भव हो पाता है चेतना के उच्च आयाम में प्रवेश। स्वयं ही उद्घाटित होते हैं अदृश्य के द्वार।

इसे महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में स्पष्ट किया है-

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३/३२॥

शब्दार्थ= मूर्धज्योतिषि= मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से); सिद्धदर्शनम्= सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

भावार्थ= सिर के शीर्ष भाग के नीचे की ज्योति पर संयम करने से समस्त सिद्धों के अस्तित्त्व से जुड़ने की क्षमता मिल जाती है।

अदृश्य के दर्शन कराने वाला है यह सूत्र। इस महत्त्वपूर्ण सूत्र में मानव चेतना के नए आयाम को उद्घाटित करने की क्षमता है। इस सूत्र में निहित सत्य को अनुभव करने के लिए यह समझना जरूरी है कि मनुष्य स्वयं में क्रमिक विकास है। केवल इतना भर नहीं है कि मनुष्य विकसित हो रहा है, वह विकास का माध्यम भी है। वह स्वयं ही विकास है। मानव जीवन का यह एक ऐसा सत्य है जिसे अनुभव कर आनन्दित हुआ जा सकता है। क्योंकि यही तो मनुष्य के गौरव की परिभाषा है। पदार्थ तो प्रारम्भिक बिन्दु है- अल्फा प्वाइन्ट और परमात्मा है अन्तिम शिखर- ओमेगा प्वाइन्ट।

मनुष्य इन दोनों के बीच का सेतु है। भौतिक पदार्थ मनुष्य से गुजरकर परमात्मा में रूपान्तरित हो जाता है।

योग की सम्पूर्ण देशना यही है कि ऊर्ध्वगामी होने के लिए, अपने से पार जाने के लिए हमें क्या करना है। ओमेगा प्वाइन्ट-शिखर बिन्दु तक पहुँचने के लिए यह कैसे सहयोग करता है, जिससे कि सम्पूर्ण ऊर्जा निर्मुक्त होकर, रूपान्तरित हो जाय, पदार्थ-परमात्मा में, दिव्यता में रूपान्तरित हो जाय। योग मनुष्य की पूरी की पूरी अन्तर्यात्रा का, तीर्थयात्रा का नक्शा है। मूलाधार से सहस्त्रार तक का नक्शा है। अगर मनुष्य मूलाधार पर - काम केन्द्र पर अटक जाय तो फिर उसका विकास असम्भव है। ज्यादातर लोग यहीं अटके रह जाते हैं। लेकिन अगर अन्तर्यात्रा की जाय तो सहस्त्रार पर, ज्ञान के केन्द्र पर पहुँचना सम्भव है।

यह सहस्त्रार सिर के मूर्धन्य भाग के ठीक नीचे अवस्थित होता है। सहस्त्रार सिर का एक सूक्ष्म द्वार है। ठीक वैसे ही जैसे कि जननेन्द्रिय मूलाधार का सूक्ष्मद्वार होती है। जननेन्द्रिय के सूक्ष्म तार से व्यक्ति नीचे की ओर, प्रकृति में, जीवन में, दृश्य जगत् में, पदार्थ में, रूप में, आकार में आता है। पूरी तरह से तो नहीं, पर लगभग इसी तरह व्यक्ति के सिर के मूर्धन्य भाग में एक निष्क्रिय इन्द्रिय होती है। वहाँ भी एक सूक्ष्म द्वार होता है। जब ऊर्जा सहस्त्रार की ओर जाती है, तो वह सूक्ष्म द्वार ऊर्जा के विस्फोट से खुल जाता है। तब वहाँ से व्यक्ति सूक्ष्म प्रकृति के साथ, उच्चस्तरीय चेतना के साथ जुड़ जाता है। इस अवस्था को हम चाहें तो सिद्धावस्था भी कह सकते हैं।

सामान्य जीवन क्रम में तो यह अनुभूति नहीं होती। इसका कारण बस इतना ही है कि सामान्य जीवन की गति नीचे की ओर है। इसे ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर शरणागति आवश्यक है। जिनमें ये तीनों हैं, उनकी अन्तर्चेतना कर्म से, संस्कार से मुक्त होती है। जन्म-जन्मान्तर के अवरोधों का शमन होता है। चेतना की निम्न गति ऊर्ध्वगति में परिवर्तित होती है। और तब इस सूत्र में कहे गए मूर्धज्योतिषि का सत्य स्पष्ट होता है। यह बात साफ होती है कि सिर के कपोल में एक छिद्र है। इसी को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है, उसमें संयम करने से पृथ्वी और स्वर्गलोक के बीच में विचरने वाले सिद्धों के दर्शन होते हैं।

युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव के जीवन में इस सूत्र के सत्य की अनुभूति स्वाभाविक क्रम में प्राप्त होती है। अपनी अन्तरंग आध्यात्मिक वार्ताओं के क्रम में उन्होंने एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख किया था। इस क्रम में उन्होंने बताया कि तब वह वेदभाष्य करने का विचार कर रहे थे। उन दिनों इसी पर अनवरत चिन्तन, मनन का क्रम चलता था। एक दिन सांझ को जब वह वृन्दावन के पास यमुना तट पर बैठे हुए वेद की ऋचाओं पर चिन्तन कर रहे थे, तब उनके चिन्तन की प्रगाढ़ता ध्यान में परिवर्तित हो गयी। स्वाभाविक रूप से उनकी ऊर्ध्वगामी चेतना सहस्रार में जाकर संयमित हो गयी। सहस्रसार के इस संयम क्रम में उन्होंने देखा कि अन्तरिक्ष में दो अतिशय तेजस्वी पुरुष जा रहे हैं। उनकी भी दृष्टि इनकी ओर गयी। सम्पर्क संवाद में बदला और ज्ञात हुआ कि ये और कोई नहीं बल्कि ब्रह्मर्षि वशिष्ठ एवं महर्षि वामदेव हैं।

आह्वान करने पर ये दोनों उनके समक्ष प्रकट हो गए। गहन संयम समाधि में जिनका साक्षात्कार हो रहा था, वे अब नेत्रों के सामने प्रकट थे। पूज्य गुरुदेव ने उनका स्वागत, सम्मान किया। साथ ही वार्ता के क्रम में अपना उद्देश्य भी स्पष्ट किया। बताया कि वह वेदभाष्य करने की योजना बना रहे हैं। उनके इस संकल्प की पावनता को जानकर इन दोनों महर्षियों ने कई बहुमूल्य सुझाव दिए। साथ ही यह भी आश्वासन दिया कि समय-समय पर इस कार्य में वह अपना सहयोग देते रहेंगे। गुरुदेव ने इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए बताया कि वेदभाष्य के क्रम में सचमुच ही इन महानुभावों का प्रकट-अप्रकट, प्रत्यक्ष-परोक्ष सहयोग मिलता रहा। मूर्धाज्योति पर संयम सिद्ध होने पर ऐसे दिव्य अनुभव सामान्य बन जाते हैं।

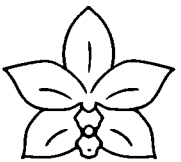

बुद्धि व बोध का समन्वय है प्रतिभा

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी निरन्तरता में अन्धकार के विसर्जन एवं प्रकाश के अवतरण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अंधकार व प्रकाश कहने से केवल रात के अंधियारे तथा दिन के उजियारे का ही परिचय नहीं मिलता बल्कि इनसे चेतना की अवस्थाएँ भी परिभाषित होती हैं। चेतना में अंधियारा- दुःख-दरिद्रता, पीड़ा-पतन, रोग-शोक व अज्ञान को जन्म देता है। अंधियारा जितना सघन होता है, जीवन में ये उपद्रव भी उतनी ही तीव्रता व सघनता से उभरते हैं। यदि उजियारा हो तो जीवन में सुख-समृद्धि, प्रसन्नता-उत्थान, स्वास्थ्य-हर्ष व ज्ञान की स्वाभाविक छटा छा जाती है। स्वयं के अथवा दूसरों के जीवन में इनकी परख व पहचान इसी से की जा सकती है। हमारा अपना जीवन अंधकार अथवा प्रकाश में से किधर व किस ओर गति कर रहा है, हम इन मानकों के आधार पर इसका मूल्यांकन कर सकते हैं।

मूर्धा की ज्योति में संयम करने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं। यह संयम केवल उन्हीं के लिए सम्भव है जो प्रकाश पथ पर गतिशील हैं। जो अपनी योग साधना की निरन्तरता से अनवरत अन्धकार को विसर्जित करते जा रहे हैं। साथ ही अपनी चेतना में निरन्तर प्रकाश के अवतरण को सम्भव बना रहे हैं। योग पथ पर चलते हुए योग साधना को करते हुए योग साधक सिर के शीर्ष भाग के नीचे की ज्योति को देख पाने में, उस पर संयम कर सकने में सक्षम हो पाता है। इस

संयम का परिणाम उसे सिद्ध पुरुषों के सान्निध्य के रूप में मिलता है। वह सहज ही उन्हें देख सकता है, अनुभव कर सकता है। यहाँ तक कि उनसे भेंट, वार्तालाप एवं मार्गदर्शन के अवसर उसे सुलभ होते हैं।

यदि प्रकाश का अवतरण सम्पूर्ण चेतना को प्रकाशित कर दे तो स्वभावत: उसमें विकसित होता है प्रातिभ ज्ञान। इसे महर्षि पतंजलि ने अपने अगले सूत्र में प्रकट किया है-

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३/३३॥

शब्दार्थ= वा= अथवा; प्रातिभात्= प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से (बिना किसी संयम के ही); सर्वम्= सारी बातों का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= प्रातिभ ज्ञान के द्वारा समस्त वस्तुओं का बोध मिल जाता है।

महर्षि के इस सूत्र में अन्तर्चेतना के रूपान्तरण का संकेत है। प्रातिभ ज्ञान में मन सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और प्रतिभावान बन जाता है। प्रातिभ ज्ञान योगी की प्रतिभा का परिचय कराता है। यहाँ पर इस सूत्र में प्रतिभा का अर्थ बुद्धि की सीमा से कहीं अधिक है। प्रतिभा शब्द में निहित अर्थ को समझने के लिए अपेक्षाकृत अधिक गहनता में उतरने की आवश्यकता है। इस शब्द का ठीक-ठीक अंग्रेजी अनुवाद कर पाना भी कठिन है। अगर इसे इन्ट्यूशन कहा जाय तो यह बहुत अधिक अपूर्ण होगा। इसलिए इसका अनुवाद करने की अपेक्षा इसे समझने की जरूरत कहीं अधिक है।

मनुष्य की अन्तर्चेतना में तर्कबुद्धि एवं अन्तर्भाव या अन्तर्बोध के दो पहलू निहित होते हैं। इनमें तर्कबुद्धि सूर्य का व अन्तर्बोध चन्द्र का प्रतीक है। जब कोई योग साधक अपनी साधना प्रक्रिया में इन दोनों का अतिक्रमण कर जाता है, तब उसमें प्रतिभा का आविर्भाव होता है। इस प्रक्रिया की समझ ही इसकी सही व्याख्या है। इसे अनूदित शब्दों में नहीं समेटा जा सकता। सूर्य है बुद्धि, विश्लेषण व तर्क। चन्द्र है अन्तर्बोध, अन्तर्प्रेरणा, अचानक निष्कर्ष पर पहुँच जाना। बुद्धि विधि, प्रणाली और तर्क से संचालित होती है। अन्तर्बोध की कोई विधि नहीं है। इसकी कोई प्रणाली, कोई नियम व्यवस्था या तर्क नहीं है। अन्तर्बोध सम्पन्न व्यक्ति से यह नहीं पूछा जा सकता है कि ऐसा क्यों है ? ऐसा इसलिए है क्योंकि अन्तर्बोध सम्पन्न व्यक्ति के समक्ष अचानक रहस्य से पर्दा उठता है। कुछ ऐसे जैसे कि बिजली चमक गयी हो।

अन्तर्बोध से प्रकट होने वाला ज्ञान ऐसे ही आता है। इसकी कोई विधि या प्रणाली नहीं है। सभी आदिम समाज इस अन्तर्बोध में जीते थे। बच्चे भी अन्तर्बोध में जीते थे। अधिक भावपूर्ण होने के कारण प्राय: स्त्रियों का मन भी इसी से संचालित होता है। सभी कवि भी इसी अन्तर्बोध से प्रेरित होते हैं। जबकि बुद्धि में सम्पूर्ण व्यवस्था है। तर्क की व्यवस्था, प्रणाली की व्यवस्था, विश्लेषण-विवेचन की व्यवस्था। इसमें क्यों? क्या? किसलिए? व किस तरह? जैसे प्रश्नों के सिलसिलेवार उत्तर हैं। अन्तर्बोध में ऐसी कोई अवस्था या व्यवस्था नहीं है।

प्रतिभा इससे पूरी तरह से भिन्न है। इसमें बुद्धि व अन्तर्बोध का जोड़ है, और साथ ही इन दोनों का अतिक्रमण भी है। इस तरह प्रतिभा का अर्थ है जब चेतना दोनों के- बुद्धि व अन्तर्बोध के पार चली जाय। प्रतिभा में कोई तर्क नहीं होता और न ही अकस्मात कोई बिजली चमकती है। सभी कुछ शाश्वत रूप से उद्घाटित होता है। इसीलिए अध्यात्मशास्त्र कहते हैं कि प्रतिभा से युक्त व्यक्ति सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी हो जाता है। उसके सामने अतीत, भविष्य व वर्तमान सब कुछ एक साथ प्रकट, स्पष्ट होता है। यही अर्थ महर्षि के सूत्र **प्रातिभाद्वा सर्वम्** का है। सचमुच ही प्रतिभा के द्वारा समस्त वस्तुओं का बोध मिल जाता है।

महान् योगी महर्षि अरविन्द ने इसे अपने योग चिन्तन में स्पष्ट करने की कोशिश की है। उन्होंने मानसिक चेतना को पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया है। ये योग साधना के द्वारा चेतना के क्रमिक रूप से रूपान्तरित होने की अवस्थाएँ हैं। इनमें से पहली अवस्था है- १. माइन्ड अर्थात् मन- यही हमारी सामान्य व सर्वमान्य अवस्था है। इस अवस्था में कल्पना है और तर्क भी। कल्पनाशीलता एवं बौद्धिक विश्लेषण की सभी प्रक्रियाएँ इसी अवस्था में घटित होते हैं। इसके बाद दूसरी अवस्था है- २. इन्ट्यूटिव माइन्ड अथवा अन्तर्बोध मन- इसमें सामान्य मन से कहीं अधिक उच्चतर बोध प्राप्त होता है। इस अवस्था में बोध कुछ ऐसे प्रकट होता है जैसे कि आकाश में अकस्मात-अचानक विद्युत कौंध जाती है। बिजली की चमक की तरह प्रकट होता है ज्ञान। इसमें न तो कोई विधि है और न प्रणाली। बस बोध होता है, लेकिन यह अवस्था स्थायी नहीं होती है। कल्पनाशीलता व बुद्धि

की अवस्था स्थायी है सूर्य की तरह। जबकि यह अवस्था चन्द्र की तरह प्रकट होने के साथ छुप भी जाती है।

इसके बाद तीसरी अवस्था है- ३. इल्यूमिन्ड माइन्ड अथवा प्रकाशित मन- इस अवस्था में मन रूपान्तरित हो जाता है। उसका प्रकाश स्थायी हो जाता है। उसका बोध भी स्थायी होता है। इसमें कोई लुकाछिपी नहीं होती। मन की इसी अवस्था को महर्षि पतंजलि ने प्रतिभा कहा है। महर्षि अरविन्द के अनुसार चौथी अवस्था- ४. ओवर माइन्ड अथवा अधिमन है। इस अवस्था में ज्ञान के साथ सृजन की सामर्थ्य भी होती है। ईश्वर की सृजन चेतना के साथ इसका एकात्म होता है। पाँचवी अवस्था को महर्षि अरविन्द ने ५. सुपर माइन्ड या अतिमन कहा है। यह ब्राह्मी अवस्था है। परमात्मा से सर्वथा एकात्मता का अनुभव। जीवन चेतना का शिखर है यह।

महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र में जिस प्रतिभापूर्ण मन की बात की है वह मन की सम्पूर्ण प्रकाशित अवस्था ही है। प्राचीन योगशास्त्रों में इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब चेतना सहस्रार में गतिमान होती है और भीतर के दस लाख सूर्य व दस लाख चन्द्र मिल जाते हैं और जब व्यक्ति आनन्द का असीम सागर बन जाता है, जो अनन्त है। जब कहीं कोई सीमा नहीं रह जाती, कोई ओर-छोर नहीं रह जाता, वही है प्रतिभा। इस अवस्था में ठीक से देखने व जानने योग्य हो जाता है। तब उसके लिए स्थान व समय की सीमाएँ विलीन हो जाती हैं। समय व स्थान की दूरी मिट जाती है। उसका ज्ञान व बोध अनन्त व सर्वकालिक होता है। उसे सर्वज्ञ या त्रिकालज्ञ की उपाधियाँ इस अवस्था को पाने पर ही दी जाती हैं। सचमुच ही वह सर्वज्ञाता हो जाता है।

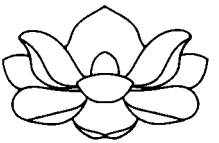

हृदय पर संयम से होता है चित्त का ज्ञान

जीवन केवल उतना नहीं है, जितना बाहरी तौर पर दिखाई देता है। शरीर की संरचना, इसकी गतिविधि, इससे प्रकट होने वाला व्यवहार जीवन का परिचय तो देता है, पर इसे सम्पूर्णता में परिभाषित नहीं करता। जीवन की यह बाहरी संरचना सम्पूर्णतया आन्तरिक संरचना पर टिकी है। इसी आन्तरिक संरचना को महर्षि पतंजलि चित्त कहकर निरूपित करते हैं। जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी गतिविधि का आधार यही है। चित्त में संचित कर्मराशि, इसका शुभ-अशुभ स्वरूप, इसका परिपाक हम सबकी जिन्दगी के अच्छे-बुरे घटनाक्रमों का, यहाँ तक कि जीवन-मरण का कारण बनता है। यथार्थ में कहें तो महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र के चारों अध्यायों के सभी १८५ सूत्रों में चित्त के ही सूक्ष्म-अतिसूक्ष्म अन्तर-प्रत्यन्तर की प्रक्रिया, प्रयोग व परिणामों की विवेचना की है।

उन्होंने सम्पूर्ण योगदर्शन, समूची योगविद्या को चित्तवृत्तियों के निरोध के रूप में बताया है। चित्त की वृत्तियों की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ ही जीवन के विविध रूपों को प्रकट करती हैं। शुभ-अशुभ के रूप में, सुख-दुःख के रूप में, ज्ञान-अज्ञान के रूप में यह प्रक्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। हाँ, जब व्यक्ति योग के अनुशासन को अपनाता है, स्वयं को योग साधना में संलग्न करता है तो क्रमशः उसके क्लेश क्षीण होते हैं। क्रमिक रूप से उसकी वृत्तियाँ शान्त होती हैं। इसी क्रम में वह धीरे-धीरे एकाग्रता व निरूद्ध अवस्था की ओर बढ़ता

है। इस अवस्था में स्थिर व स्थापित होने से उसकी स्वयं के स्वरूप में उपस्थिति व अवस्थिति होती है। उसे प्रत्यभिज्ञा होती है- स्वयं के वास्तविक स्वरूप की। हाँ, यह सब होता तभी है, जब उसकी चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध हो पाती हैं। इसलिए तो योग एवं योगी, योगसूत्र व योगसूत्रकार सभी विविध रूपों में यही समझाने का प्रयत्न करते हैं कि यदि जीवन को सार्थक रूप में समझना है तो चित्त को सम्पूर्ण रूप से समझना होगा।

यदि चित्त प्रकाशमान हो तो योगी सर्वज्ञाता हो जाता है। चित्त की इस प्रकाशित अवस्था का परिणाम व परिचय है- प्रतिभ। यह प्रातिभ बुद्धि व अन्तर्बोध का सम्मिलन व अतिक्रमण है। जब पतंजलि कहते हैं, उन्हें मिलाना है- **प्रातिभाद्वा सर्वम्** तो उनका यही मतलब है कि बुद्धि व अन्तर्बोध का मिलन इतने गहरे से हो जाय कि दोनों आपस में एक दूसरे में घुल-मिल जाय। जहाँ तर्क व प्रार्थना का मिलन होता है, वहाँ कार्य और पूजा का मिलन हो जाता है। जहाँ विज्ञान अध्यात्म के विरोध में नहीं होता, जहाँ अध्यात्म विज्ञान का विरोधी नहीं होता, वहाँ प्रातिभ का आविर्भाव होता है। इसके प्रकाश में योगी सर्वज्ञाता होता है।

यह स्थिति बने तो उसमें चित्त को सम्यक् रीति से समझने की योग्यता विकसित होती है। इस सत्य को महर्षि ने अपने अगले सूत्र में प्रकट किया है-

हृदये चित्तसंवित ॥३/३४॥

शब्दार्थ= हृदये= हृदय में (संयम करने से); चित्तसंवित्= चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

भावार्थ= हृदय पर संयम करने से चित्त की प्रकृति, उसके स्वभाव का ज्ञान हो जाता है।

इस सूत्र के सत्य व मर्म को समझने के लिए हृदय शब्द से परिचित होना आवश्यक है। यूं तो प्रचलित हृदय शब्द से सभी परिचित हैं। परन्तु यहाँ स्थिति भिन्न है। महर्षि पतंजलि जब हृदय शब्द का प्रयोग करते हैं, तो उनका मतलब भौतिक या शारीरिक हृदय से नहीं है। योग की पारिभाषित व्याख्या में ठीक भौतिक हृदय के पीछे वास्तविक और सच्चा हृदय छिपा है। यह भौतिक शरीर का हिस्सा नहीं है। हालांकि भौतिक हृदय इस वास्तविक हृदय से, आध्यात्मिक हृदय से जोड़ने का कार्य करता है। उनके बीच एक समस्वरता अवश्य है, फिर

भी आपस में इनका कार्य, कारण सम्बन्ध नहीं है। इस आध्यात्मिक हृदय को केवल तभी जाना जा सकता है, जब योगी को प्रतिभा का प्रकाश प्राप्त हो जाय।

इस हृदय की चर्चा भिन्न-भिन्न उपनिषदों ने भिन्न-भिन्न रीति से की है। कठोपनिषद् की तृतीय वल्ली में इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है- **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।** (कठ. ३/१) अर्थात् शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर में परमब्रह्म के उत्तम निवास स्थान में हृदय गुहा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले दो (परमात्मा व जीवात्मा) हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अनुवाक में इसकी चर्चा कुछ इस ढंग से की गयी है- **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्** (प्रथम अनुवाक) जो मनुष्य विशुद्ध आकाश में रहने वाले परमेश्वर को हृदयगुहा में जान लेता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसके लिए कहा गया है- **एवमात्माऽऽत्मनि गुह्यतेऽसौ** (श्वेताश्वतर १/१५) उसी प्रकार परमात्मा हमारी हृदय गुफा में छिपे हैं। ऐसी ही चर्चा अन्यत्र भी की गयी है। इसी हृदय में संयम करने से चित्त अर्थात् चेतना के स्वभाव का ज्ञान होता है।

हृदय की ही तरह चित्त संवित पर भी चिन्तन आवश्यक है। जिस चित्त की चर्चा की गयी है, वह प्रतिभा से सम्पूर्ण चित्त है, प्रकाशित चित्त है। अशुद्ध चित्त या मन को यहाँ पर नहीं समझना चाहिए। क्योंकि मन तो कब का विदा हो चुका, चित्त की अशुद्धियाँ तो कब की जा चुकीं। कारण यह है कि मन या तो बुद्धि प्रधान होता है अथवा भाव प्रधान। या तो सूर्य प्रधान मन होगा अथवा चन्द्र प्रधान। प्रतिभा प्राप्त करने वाला साधक तो स्वत: ही इन दोनों का अतिक्रमण कर लेता है। वह ऊपर उठ चुका होता है- मन की इन सामान्य अवस्थाओं से। यह चित्त संवित योगियों की उन्मन अवस्था है। इसे अ-मन अवस्था भी कह सकते हैं।

इस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते मन विदा हो चुका होता है। अब तो जो रह जाता है, वह अ-मन है। मन तो अपने स्वभाव से ही भेद करना जानता है। द्वन्द्व ही मन का स्वभाव है। सुख-दु:ख, अच्छा-बुरा यह बंटवारा करना, इसी ढंग से सोचना मन का स्वभाव है। इस रूपान्तरित व प्रकाशित अवस्था में विभाजन नहीं है। काल भी यहाँ बिना किसी भेद के अखण्ड रूप में प्रवाहित है। अ-मन की इस अवस्था को प्राप्त करने का मार्ग एक ही है- चित्तशुद्धि, चित्त का

परिष्कार। फिर यह योग विधि से हो अथवा तंत्रविधि से, ज्ञानविधि से हो अथवा भक्तिविधि से- जिस विधि से भी चित्त को शुद्ध किया जाय, चित्त प्रतिभा से परिपूर्ण हो जाता है। योग साधक का स्वयं के साथ समस्वरता एवं सामञ्जस्य होने लगता है।

योगशास्त्र में इस केन्द्र को अनाहत चक्र भी कहते हैं। महर्षि अरविन्द ने इसे अपनी व्याख्या में साइकिक बीइंग या चैत्य पुरुष कहा है। उनके द्वारा प्रतिपादित चैत्य पुरुष ही महर्षि पतंजलि का चित्त संवित है। सूफी फकीरों में इस सत्य की चर्चा कुछ अटपटे व अनूठे ढंग से की गयी है। एक सूफी फकीर अपने शिष्य को निर्देश देता है- जाओ, एक हाथ की ताली की आवाज सुनो। अब बुद्धि से सोचो तो यह बात बड़ी असंगत व अटपटी है। क्योंकि एक हाथ की ताली तो बज ही नहीं सकती। एक हाथ की ताली की आवाज भी असम्भव या नामुमकिन है। आवाज करने के लिए तो हाथ चाहिए, पहले बजाओ और आवाज करो, तब सुनो। आहत का अर्थ है द्वन्द्व, जबकि अनाहत का अर्थ है द्वन्द्व विहीन। इस तरह अनहत का अर्थ है एक हाथ की ताली।

चित्त संवित में यही अवस्था प्रकट होती है। चेतना का वास्तविक स्वभाव प्रकट होता है। जब बाहर के सभी प्रकाश नहीं रह जाते हैं तब प्रकट होता है प्रतिभा का प्रकाश। इसी प्रकाश में प्रकाशित होता है- चेतना का अपना स्वभाव। आत्मा प्रकट करती है स्वयं के स्वरूप को। इसी तरह जब बाहर-भीतर की सभी आवाजें विलीन हो जाती हैं तो उस ध्वनि को सुनना सम्भव होता है, जो चेतना की, शान्ति की, नीरवता की, मौन की अपनी ध्वनि है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि यहाँ ध्वनिविहीन ध्वनि सुनायी देती है। अपने सम्पूर्ण अस्तित्त्व के मिलन का सुखद बिन्दु यही है। हृदय पर संयम करने से, चैत्य पुरुष पर ध्यान करने से चेतना के स्वभाव का ज्ञान होता है। उपनिषदों के गुह्य शब्दों के अर्थ इसी अवस्था में साधक की हृदय गुहा में प्रकट होते हैं।

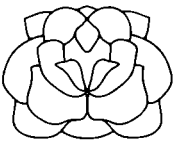

स्वार्थ पर संयम से आत्मपुरुष का ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग अपनी निरन्तरता में विवेक व वैराग्य को विकसित करते हैं। ये प्रयोग सही ढंग से हो रहे हैं, इनकी सभी प्रक्रियाएँ त्रुटिहीन हैं, इसकी पहचान यही है। हालाँकि सामान्य जीवन-क्रम में साधना की प्रामाणिकता कुछ अटपटे ढंग से की जाती है। जो किसी भी तरह की साधना कर रहे हैं, वे अपनी साधना की परख किसी न किसी चमत्कार से अथवा मनोकामना पूरी होने से करते हैं। यही उनकी साधना के प्रामाणिक होने की कसौटी बन जाती है। जबकि सत्य इसके विपरीत है। सत्य कहता है कि यदि कोई सच्ची निष्ठा से साधना कर रहा है, तो उसमें विवेक विकसित होना चाहिए। विवेक यानि कि सही-गलत की समझ, औचित्य व अनौचित्य की परख उसमें विकसित होनी चाहिए। यदि विवेक विकसित हो रहा है तो वैराग्य स्वयं ही विकसित हो जाएगा। वैराग्य का अर्थ है जिसे विवेक ने गलत ठहराया, जिसे अनौचित्यपूर्ण कहा, उसे त्याग देना।

महर्षि पतंजलि के अनुसार, योग साधना में सर्वाधिक आवश्यक चरण हैं- विवेक, दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण है- वैराग्य। इन दोनों का सही ढंग से विकास हो तभी कैवल्य का बोध मिल पाता है। यह कैवल्य महर्षि के अनुसार परम प्राप्ति है। इसका अर्थात् कैवल्य का अर्थ है- परम मुक्ति, चेतना की परम स्वतन्त्रता; इसे निर्दोष एकांतता अथवा शुद्ध अकेलापन कह सकते हैं। यूँ अकेलापन

निषेधात्मक है। अकेलेपन में हम दूसरे के लिए उत्सुक होते हैं। लेकिन शुद्ध अकेलेपन में ऐसा नहीं है। इसमें स्वयं में स्वयं की प्रतिष्ठा है। इस शुद्ध अकेलेपन अथवा निर्दोष एकान्त में व्यक्ति स्वयं के साथ इतना सन्तुष्ट होता है कि उसे दूसरे की आवश्यकता ही महसूस नहीं होती। दूसरा व्यक्ति कोई स्वप्न निर्मित नहीं करता, दूसरा व्यक्ति बाहर की ओर खींच नहीं सकता।

पश्चिमी दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र का प्रसिद्ध वचन है- 'दूसरा नर्क है'। इससे मिलती-जुलती उक्ति वेदान्त दर्शन की है, **'यत् द्वैतं तत् भयं'** अर्थात् जहाँ दूसरा है, वहाँ भय है। पतंजलि ने अपने 'कैवल्य' के कथन में इसी की पहचान कराई है। दूसरा नर्क है अथवा नहीं, इस पर अनेकों तर्क किए जा सकते हैं लेकिन दूसरे की आकांक्षा, उसके साथ तादात्म्य की मनोकामना सहज हीन होने का निर्माण कर देती है। इसी से चित्त पर कर्म व संस्कार राशि का बोझ बढ़ता है। जीवन चेतना पर अँधियारा छाता है। इस अँधियारे को हटाना, चित्त को शुद्ध करना ही तो यथार्थ साधना है।

हृदय में संयम करने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। इसके बाद अगले सूत्र में उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण रहस्य उद्घाटित किया है-

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थ-संयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३/३५॥

शब्दार्थ = **सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः**= सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर भिन्न हैं (किसी भी प्रकार सम्मिलित होने वाले नहीं हैं), इन दोनों की; **प्रत्ययाविशेषः** = जो प्रतीति का अभेद है, वही; **भोगः** = भोग है, (उसमें से); **परार्थात् स्वार्थसंयमात्** = परार्थ प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है, उसमें संयम करने से; **पुरुषज्ञानम्** = पुरुष का ज्ञान (होता है)।

भावार्थ = पुरुष, सद्चेतना व सत्त्व, सद्बुद्धि के बीच अन्तर कर पाने की अयोग्यता के कारण, इसी अयोग्यता के परिणामस्वरूप अनुभव के भोग का उद्भव होता है। यद्यपि ये तत्त्व नितान्त भिन्न हैं। स्वार्थ पर संयम करने से अन्य ज्ञान से भिन्न पुरुष ज्ञान उपलब्ध होता है।

महर्षि पतंजलि द्वारा कहे गए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूत्रों में है यह सूत्र। यह सूत्र योगदर्शन के सभी सिद्धान्तों को स्वयं में समाहित किए है। इसमें

विकृतिविज्ञान, निदान व समाधान तीनों हैं। इसका प्रत्येक शब्द अतिशय महत्त्वपूर्ण है। भोग का उदय होना जीवन चेतना की विकृति है। इसी मूल विकृति से उपजते हैं- जीवन के सभी दु:ख, दोष व दुर्गुण। जबकि स्वयं यह विकृति पनपती है पुरुष व बुद्धि के बीच भेद न कर पाने की अयोग्यता के कारण।

बुद्धि और पुरुष, दोनों पूरी तरह से भिन्न हैं। इनका कहीं कोई मेल नहीं है। बुद्धि परिणामशील, जड़, भोग्य व चंचल है जबकि पुरुष अपरिणामी, चेतन, भोक्ता व असंग है। फिर भी अविद्या के कारण उनकी एकता की प्रतीति हो रही है। इसी प्रतीति का नाम अस्मिता है। योग दर्शन के दूसरे अध्याय के छठे सूत्र में इसे स्पष्ट किया गया है। इस एकता के कारण दोनों का अलग-अलग ज्ञान नहीं होता। ऐसी दशा में जड़ बुद्धि में (जो कि पुरुष की चेतना से चेतन प्रतीत होती है) सुख, दु:ख व मोह रूप वृत्तियों का उदय होता है। बाद में यही भोग, कर्म व संस्कार का रूप ले लेती हैं।

इस अभेद प्रतीति के कारण ही भोग का उदय होता है। हालाँकि यह अभेद रूप वृत्ति चित्त का धर्म है, परन्तु पुरुष के लिए है, इसलिए परार्थ है और इसी दशा में जो इस भोग रूप वृत्तियों से भिन्न द्रष्टापुरुष के स्वरूप विषयक वृत्ति होती है, वह पौरुषेय वृत्ति स्वार्थ है क्योंकि उसका विषय पुरुष है और वह है भी उसके लिए, इसलिए वह परार्थ नहीं है। इस स्वार्थ वृत्ति में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। हालाँकि ज्ञान बुद्धि का धर्म है, अत: उस बुद्धि के धर्म रूप ज्ञान से पुरुष नहीं जाना जाता है, किन्तु बुद्धि में जो पुरुष का चेतन रूप प्रतिबिम्बित है, उसको दर्पण में अपना मुख देखने की भाँति पुरुष देखता है। इस प्रकार संयम की इस विधि से योग साधक को पुरुष का ज्ञान होता है।

यही महर्षि पतंजलि की दृष्टि है। पुरुष प्रकृति में सत्त्व के रूप में प्रतिबिम्बित होता है। हमारी बुद्धि तो सच्ची प्रतिभा का प्रतिबिम्ब मात्र है। कोई व्यक्ति होशियार है, तार्किक है, अंधेरे में कुछ टटोल रहा है, विचारक है, सिद्धान्त निर्मित कर रहा है, विचार प्रणालियाँ बनाता है, ये सब तो केवल बुद्धि के प्रतिबिम्ब हैं। यह कोई सच्ची प्रतिभा नहीं है क्योंकि सच्ची प्रतिभा को खोजने की जरूरत नहीं है। प्रतिभावान के लिए सहज ही सब कुछ आविष्कृत, उद्घाटित है। सारे के सारे धर्मशास्त्र, अधिक से अधिक बुद्धि को प्रशिक्षित

और अनुशासित कर पाते हैं। इनमें से कोई भी सत्य की ओर, शुद्ध पुरुष की ओर नहीं ले जा पाता। यही है वास्तविक कारण अज्ञान में, अंधकार में, संसार में, पदार्थ में भटकने का। स्वयं की वास्तविकता से दूर हटने और अपनी ही धारणाओं व प्रक्षेपणों का शिकार होने का। हालांकि ये सभी शुद्ध पुरुष से नितान्त भिन्न हैं। इस भिन्नता को समझ लेना ही योग साधक की योग्यता है।

इतना कहने के बाद महर्षि समझाते हैं- स्वार्थ पर संयम करने से अन्य ज्ञान से भिन्न पुरुष ज्ञान उपलब्ध होता है। पतंजलि कहते हैं- स्वार्थ परम ज्ञान ले आता है। यही है धर्म का मर्म। स्वार्थी होने का उपदेश दे रहे हैं महर्षि पतंजलि। उनके इस स्वार्थ को समझना होगा। स्वार्थ है स्वयं को दूसरों से अलग पहचानने का प्रयास। जो लोग अपने से अलग हैं केवल वे ही दूसरे नहीं है, अपना यह शरीर भी दूसरा है; एक दिन इसे मिट्टी में मिलना है। श्वांस भी दूसरी है, इसे भी तो हवा में वापस लौटना है। वृत्तियाँ, बुद्धि ये सभी दूसरे ही तो हैं।

बस एक ही चीज अपनी है, स्वयं का साक्षी भाव। अपना यह अन्तर आकाश ही पुरुष है। इसके लिए स्वार्थ में संयम अनिवार्य है। धारणा, ध्यान व समाधि इन तीनों को स्वयं पर केन्द्रित करना होगा। दूसरों के साथ जुड़कर उनसे तादात्म्य बनाकर हमने भोग इकट्ठे किए हैं। अपने लिए नर्क का निर्माण किया है। दूसरों से अब यह तादात्म्य एकात्मता तोड़ते हैं। स्वयं को स्वयं से जोड़ना है। स्वयं पर स्वयं को केन्द्रित करना है। इस प्रक्रिया की निरन्तरता में दूसरे खो जाएंगे। बस स्वयं की व्यापकता, स्वयं का बोध बचा रहेगा। यही बोध है स्वयं का, पुरुष का ज्ञान।

जीवन के शीर्षासन से प्राप्त दुर्लभ सिद्धियाँ

महर्षि पतंजलि के योग दर्शन में यह सत्य बड़ी सुस्पष्ट रीति से उजागर होता है कि 'जीवन मन का दर्पण है'। इसका अर्थ यह है कि जीवन का जो भी स्वरूप है, यहाँ जो भी घटनाक्रम घटित होते हैं, वे सब के सब अपने ही मन के प्रतिबिम्ब हैं, अपने मन की प्रतिच्छाया हैं। बात समझने की है, सोचने व विचार करने की है। जीवन की गन्दगी, जीवन के कलुष व मैल पर अनेकों चर्चाएँ होती हैं। कई तरह की चिन्ताएँ व्यक्त की जाती हैं, वार्ताएँ आयोजित होती हैं। हालाँकि इनका कोई विशेष प्रतिफल नहीं होता, स्थिति जस की तस बनी रहती है। कारण बड़ा स्पष्ट है, यदि जीवन को सुधारना है, सँवारना है तो मन को सुधारना, सँवारना होगा। जीवन का कलुष हटाने के लिए मन को निष्कलुष करना होगा। जीवन में मैल न हो, इसके लिए मन का निर्मल होना अनिवार्य है।

ऋषि पतंजलि की योग विधियाँ, उनके योग के प्रयोग मन को निष्कलुष, निर्मल व परिष्कृत बनाने के लिए हैं। उनके निष्कर्ष कहते हैं कि यदि मन के परिष्कार की प्रक्रिया निरन्तर रहे, तो न केवल जीवन परिष्कृत होता है, बल्कि इसमें अनेकों दिव्य व दैवीय शक्तियों का उदय होता है। ऐसी स्थिति में अनगिनत असम्भव, सम्भव व साकार किए जा सकते हैं। योग व तप साधना की भूमि भारत में महर्षि के इस निष्कर्ष को अनेकों ने अपने जीवन की अनुभूति बनाया है। स्वाधीनता युग के सन्त ऋषि श्रीअरविन्द ने अपनी ऐसी ही साधना

अनुभूति को शब्द देते हुए कहा- ''अन्तःकरण के नियंत्रण से बाहरी परिस्थितियों को नियंत्रित किया जा सकता है।'' आज जब सब तरफ जीवन में कलुष, गन्दगी व्याप्त हो रही है, महर्षि की योगविधियाँ कारगर समाधान हैं।

इस योगकथा में कहा गया है- 'पुरुष, सद्चेतना व सत्त्व, सद्बुद्धि के बीच अन्तर कर पाने की अयोग्यता के कारण, इसी अयोग्यता के परिणामस्वरूप अनुभव के योग का उद्भव होता है।' यद्यपि ये तत्त्व नितान्त भिन्न हैं। स्वार्थ पर संयम करने से अन्य ज्ञान से भिन्न पुरुष ज्ञान उपलब्ध होता है। महर्षि के इस कथन में जोर देकर यह बात कही गयी है- स्वार्थ पर संयम। अपने सच्चे स्व से हम अपरिचित हैं। उस ओर हमारी एकाग्रता नहीं है। हमारा ध्यान नहीं है। हम केन्द्रित होते हैं बाहर की ओर। दूसरों से अपना तादात्म्य बिठाते हैं। इस कोशिश में मन को गंदा करते हैं। भोग, कर्म व संस्कार की गन्दगी, मन पर छाती जाती है। इसका प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है। भोग की सघनता व गहनता के अनुरूप ही जीवन का अँधियारा भी सघन व गहन हो जाता है। इससे छुटकारे का उपाय बस एक ही है- मन को परिष्कृत व प्रकाशित करना। ऐसा हो तो मन में उत्पन्न होता है प्रातिभ ज्ञान। साथ ही विकसित होती हैं- अलौकिक शक्तियाँ।

इस स्थिति को महर्षि ने अपने अगले सूत्र में स्पष्ट किया है-

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३/३६ ॥

शब्दार्थ= ततः= उस (स्वार्थ संयम) से; प्रातिभश्रावणवेदना-दर्शास्वादवार्ताः = प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता- ये (छः सिद्धियाँ); जायन्ते= प्रकट होती हैं।

भावार्थ= इसके पश्चात् अन्तर्बोध युक्त श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, आस्वाद और आघ्राण की उपलब्धि चली आती है।

योग ऋषि पतंजलि का यह सूत्र अपने आप में कई रहस्य समेटे है। इसे समझने के लिए संसार व सांसारिकता के गणितीय समीकरणों से ऊपर उठकर आध्यात्मिक काव्य की रहस्यमयता में प्रवेश करना पड़ेगा। ऐसा किए बिना इस सूत्र का सत्य बोध सम्भव नहीं है। अपनी आध्यात्मिक वार्ताओं व संगोष्ठियों में परम पूज्य गुरुदेव कहा करते थे- ''आध्यात्मिकता जीवन का शीर्षासन है।'' उनका यह कथन थोड़ा अटपटा सा है। सुनने में संत कबीर की उलटबाँसी जैसा

लगता है। अब भला यह भी कोई बात हुई कि अपने जीवन को उल्टा कर दो, उसे शीर्षासन करवा दो तो आध्यात्मिकता सध जाएगी, सिद्ध हो जाएगी। लेकिन यदि इस पर विचार किया जाय, इस कथन की गहनता में प्रविष्ट हुआ जाय तो इसमें निहित मन्तव्य स्वत: स्पष्ट हो जाएगा। बात इतनी सी है कि हमारा सामान्य व सांसारिक जीवन राग, द्वेष व चतुराई के रास्ते पर चलता है। संसार में सफलता पाने के लिए जीवन में अनेकों छल-कपट व कुटिल षडयन्त्र करने पड़ते हैं। लेकिन ये बातें आध्यात्मिक जीवन में स्वीकार नहीं है इसके लिए तो उल्टे को उलट कर सीधा करना पड़ेगा। छोड़नी पड़ेगी सांसारिक राहें व बातें, सांसारिकता के तौर तरीके। जीवन का करना होगा शीर्षासन।

सांसारिक जीवन में हर कदम पर मन कलुषित होता है। प्रत्येक सांसारिक सफलता के लिए मन को मैला करना पड़ता है। जबकि आध्यात्मिक जीवन के लिए इससे उल्टी स्थिति जरूरी है। आध्यात्मिक जीवन के लिए तो हर कदम पर मन को परिष्कृत करना पड़ेगा। मन के परिष्कार की यही निरन्तरता उसे प्रकाशित कर देती है। इस प्रकाशित अवस्था में प्रकट होती है प्रतिभा। यहाँ पर प्रतिभा का अर्थ बौद्धिक तीव्रता या कुशलता नहीं है। यहाँ पर तो यह कहा जा रहा है कि जो व्यक्ति परिपूर्ण ध्यान को उपलब्ध हो जाता है, परिपूर्ण जागरुकता, होश को उपलब्ध हो जाता है, परिपूर्ण अन्तरस्पष्टता, निर्दोषता को उपलब्ध हो जाता है, वह व्यक्ति प्रतिभा को उपलब्ध हो जाता है। प्रतिभा न तो बुद्धि है और न अन्तरबोध या इन्ट्यूशन है। यह तो बोध की प्रकाशित अवस्था है। बुद्धि है सूर्य, अन्तरबोध है चन्द्र, प्रतिभा का प्रकाश इन दोनों का अतिक्रमण कर लेता है।

इसके लिए ही तो शास्त्र कहते हैं- **'न तद्भासते सूर्य न शंशाको'** अर्थात् यहाँ सूर्य व चन्द्र का प्रकाश नहीं है। यहाँ जो आत्मा का प्रकाश है, समाधि चेतना का प्रकाश है, उसमें सब कुछ देखा व जाना जा सकता है। इससे प्राप्त होने वाली दृष्टि साधक को सर्वज्ञाता बनाती है। अभी तक देखने, सुनने व समझने के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता का अनुभव होता था। लेकिन मन की प्रकाशित अवस्था में बिना इन्द्रियों की सहायता के देखना, सुनना, समझना सम्भव हो जाता है। पश्चिमी जगत में परामनोविज्ञान के प्रयत्न अब इसे सम्भव मानने लगे हैं। 'मैन द अननोन' पुस्तक के लेखक अलेक्सस कैरल ने अपने कई प्रदर्शनों में

इस क्षमता को प्रदर्शित व प्रमाणित किया। विज्ञानवेत्ताओं ने उनके ऐसे प्रदर्शनों के वैज्ञानिक परीक्षण भी किए और अपने निष्कर्ष में उन्होंने बताया कि कैरल का दावा शत-प्रतिशत सत्य है।

जिस सत्य की आहट को कैरल ने प्रदर्शित किया, महर्षि पतंजलि उसके सम्पूर्ण विकसित स्वरूप की बात करते हैं। वह कहते हैं- १) प्रातिभ ज्ञान से अर्थात् प्रकाशित मन की प्रतिभा से भूत, भविष्य व वर्तमान तथा सूक्ष्म, ढकी हुई व दूरदेश में स्थित वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं। २) श्रावण शक्ति के विकसित होने से दिव्य शब्द सुनने की शक्ति आ जाती है। ३) वेदन शक्ति के जागरण से दिव्यस्पर्श का अनुभव करने की शक्ति आ जाती है। ४) आदर्श शक्ति के प्रभाव से साधक दिव्य रूप का दर्शन कर सकता है।५) आस्वाद शक्ति के द्वारा योग साधक दिव्य रस का अनुभव प्राप्त करने लगता है एवं ६) वार्ता शक्ति के द्वारा दिव्य गन्ध का अनुभव स्वत: प्राप्त होने लगता है। ये सभी छ: शक्तियाँ क्रमश: मन व पाँच ज्ञानेन्द्रियों की सामान्य शक्तियों का विकसित व प्रकाशित रूप हैं। योग साधना करते हुए परिष्कृत व प्रकाशित मन अपने साथ इन्द्रियों का भी रूपान्तरण कर लेता है। तब इन शक्तियों का विकास स्वत: हो जाता है। यह मन के परिष्कार की स्वत: परिणति है।

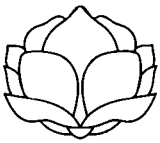

योगी के लक्ष्य में भटकाव हैं सिद्धियाँ

आमजन के बीच प्रचलित योग कथाओं व किंवदन्तियों में सिद्धियों, शक्तियों व विभूतियों की चर्चा इतनी अधिक है कि योग का आध्यात्मिक अर्थ खो गया है। योगऋषि पतंजलि योग साधकों को अपने सूत्रों में कई स्थान पर चेताते हैं कि योग का आध्यात्मिक अर्थ पवित्रता है। यही इसका वास्तविक अर्थ भी है। जो इसे समझते हैं, इस सत्य को अपनी योग साधना में आत्मसात करने की कोशिश करते हैं, केवल वही योग के यथार्थ को, उसके मर्म को अनुभव कर पाते हैं।

योग साधना में पवित्रता के गहरे मायने हैं। पवित्रता का यह सत्य जाति, कुल, धर्म, परिस्थिति, परिवेश, वस्त्र अथवा देह की अवस्था, इनमें से किसी से सम्बन्धित छुआ-छूत से परिभाषित नहीं होता है। पवित्रता का अर्थ, सत्य व मर्म तो व्यक्तित्व के निर्भार होने में है, निष्कलुष होने में है, ग्रन्थि मुक्त होने में है। देह के रंग-रूप से पवित्रता, जाँची-परखी या जाँची-नापी नहीं जा सकती। पवित्रता की परिभाषा निहित है चित्त के कर्ममुक्त होने में, संस्कार मुक्त होने में। अन्य शब्दों में कहें तो चित्त के सम्पूर्णतया शुद्ध होने में। योग के प्रकरण में जिन सिद्धियों की, शक्तियों की चर्चा की जाती है, वे भी प्रकारान्तर से चित्त का मैल ही हैं। इनका प्रयोग कितना और कैसा भी आकर्षक क्यों न हो, चित्त को मैला व गन्दला ही करता है। इनका प्रयोग योग की आध्यात्मिक पवित्रता में बाधक ही है।

योगकथा में कहा गया है कि योग साधना की निरन्तरता बनी रहे तो अन्तर्बोध युक्त श्रवण, स्पर्श, दृष्टि, आस्वाद और आघ्राण की सिद्धियाँ अपने आप साधक के पास चली आती हैं। इनके आने पर योग साधक की चेतना व्यक्तित्व की सीमाओं से पार व परे हो जाती है। उसकी अनुभूतियाँ इन्द्रियों की सीमा रेखा लाँघ लेती हैं। आधुनिक विज्ञान में इस अतीन्द्रिय क्षमता को परामानसिक क्षमता के रूप में स्पष्ट किया गया है। दुनिया के कई हिस्सों में परामनोविज्ञान के रूप में इस ज्ञान के पठन-पाठन, अध्ययन-अनुसन्धान की सुविधा भी उपलब्ध हो गयी है। भले ही ज्ञान की यह शाखा अभी शैशव काल में ही है, परन्तु इससे यह सच अवश्य स्पष्ट हो चला है कि विज्ञान ने अध्यात्म का द्वार खटखटाना आरम्भ कर दिया है। हालाँकि यह केवल आरम्भ है, यात्रा का पथ तो सुदीर्घ व विस्तीर्ण है। जिन्हें इस पथ पर चलना है, उनके लिए महर्षि पतंजलि स्पष्ट रूप से चेतावनी देते हैं- ये सिद्धियाँ समाधि में, अध्यात्म की शिखर यात्रा में विघ्न हैं, बाधा हैं, व्यवधान हैं।

उनके द्वारा कहा गया यह सत्य उनके अगले योगसूत्र में स्पष्ट है-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३/३७॥

शब्दार्थ= **ते**= वे (इसके पहले के सूत्र में कही गयी सभी सिद्धियाँ); **समाधौ** = समाधि की सिद्धि में (पुरुष को ज्ञान प्राप्त करने में); **उपसर्गाः** = विघ्न हैं (और); **व्युत्थाने** = व्युत्थान में; **सिद्धयः** = सिद्धियाँ हैं।

भावार्थ= ये वे शक्तियाँ हैं, जो समाधि के मार्ग में बाधाएँ हैं। इनसे चेतना विचलित व बर्हिमुखी होती है।

सभी तरह की सिद्धियाँ, अलौकिक शक्तियाँ अज्ञानी के लिए चमत्कार हैं, किन्तु ज्ञानी के लिए ये सभी मूढ़ताएँ हैं। पतंजलि कहते हैं कि यदि परम सत्य को पाना है, परमात्मा को उपलब्ध होना है, तो इन सब मूढ़ताओं को छोड़ना होगा। इनमें से कोई किसी काम की चीज नहीं है। सत्य के सच्चे अन्वेषक, भगवान् के सच्चे भक्त, योग के सच्चे साधक का यही ढंग है। मार्ग में उसे जो कुछ भी मिलता है, वह उसे अपने प्रभु के चरणों में चढ़ा देता है। वह कहता है- 'हे प्रभु! तुमने मुझे दिया, लेकिन मैं इसका करूँगा क्या? मैं तो इसे फिर से तुम्हारे चरणों में ही चढ़ा देता हूँ।' इस प्रकार जो कुछ भी उसे प्राप्त होता है, वह

उसे भक्तिपूर्वक भगवान् को समर्पित कर देता है और स्वयं पूरी तरह से, सर्वथा रिक्त बना रहता है।

सच्ची आध्यात्मिकता यही है। जो सिद्धियों में, शक्तियों में आध्यात्मिकता की खोज करते हैं, वे यथार्थ में मूढ़ हैं। वे माया के, अविद्या के भ्रम से भ्रमित हो रहे हैं। सच्चा भक्त, सच्चा साधक हमेशा उपलब्धि से दूर रहता है। उसे जो भी अस्तित्व से मिलता है, उसे परमात्मा को समर्पित कर वह फिर से खाली हो जाता है। तब भी कई बार कुछ लोग चालाकियाँ भी करते हैं। यूरोप की एक पुरानी किन्तु रोचक घटना है। एक बार कुछ पादरी आपस में चर्चा कर रहे थे कि उन्हें दान में जो कुछ भी मिलता है, उसका वे क्या करते हैं ? इस चर्चा में उपस्थित एक पादरी ने इस चर्चा में हिस्सा लेते हुए कहा- ''मेरे यहाँ लोग दान पेटी में जो भी कुछ डालते हैं, वह सबका सब परमात्मा के पास अपने आप ही पहुँच जाता है।'' एक अन्य पादरी ने उसके उत्साह की प्रशंसा करते हुए कहा- ''मैं अपने यहाँ चढ़ाए गए ताँबे को तो चर्च में दे देता हूँ, जबकि चाँदी की चीजें परमात्मा के पास पहुँचा देता हूँ।''

इस चर्चा को सुनते हुए एक तीसरा पादरी जो अब तक खामोश बैठा था, उसने कहा- ''मैं तो इकट्ठा किया गया सारा धन एक कंबल में रख देता हूँ और उसे हवा में उछाल देता हूँ। उछाले गए इस धन में से परमात्मा को जो रखना है रख लेता है। बाकी धन जो नीचे आ जाता है, उसे मैं परमात्मा का प्रसाद समझ कर रख लेता हूँ।'' ये सभी पादरी जब यह चर्चा कर रहे थे, तभी उस ओर से सन्त फ्रांसिस गुजरे। उन्होंने इन सभी की चर्चा को सुनकर जोर का ठहाका लगाया और बोले- ''धूर्त और चालाक मत बनो क्योंकि अन्त में तुम्हारा ही नुकसान होगा, परमात्मा का नहीं। जो ठग है, धूर्त और चालाक है, उनके लिए प्रभु का द्वार कभी न खुल सकेगा।''

अन्तर्विकास के मार्ग में अनेकों बाधाएँ आती हैं। अन्तर्यात्रा का प्रत्येक क्षण नए अन्वेषण का होता है। हर क्षण कुछ न कुछ घटित होता रहता है। सामान्य जन तो इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। अन्तर्यात्रा के पथ पर अनेक भेटें अस्तित्त्व की ओर मिलती हैं। लेकिन परमात्मा को, परम सत्य को वही उपलब्ध होता है, जो इन भेटों को फिर से प्रभु को समर्पित कर देता है। जो इन

भेटों को पकड़ने लगता है, तो फिर उसका विकास पथ वहीं रुक जाता है। उसकी अन्तर्यात्रा वहीं थम जाती है।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में इसी सत्य को स्पष्ट करते हैं। वह कहते हैं, अगर तुम्हें समाधि की चाहत है, अगर तुम्हें परम शान्ति चाहिए, परम मौन, परम सत्य चाहिए, तो फिर किसी भी तरह की प्राप्ति से, उपलब्धि से लगाव मत बना लेना। फिर चाहे वह इस लोक की हो या उस लोक की, मनोवैज्ञानिक हो या परामनोवैज्ञानिक, बौद्धिक हो या अन्तर्बोध युक्त हो, कुछ भी हो, किसी भी उपलब्धि से कोई मोह मत जोड़ना। यहाँ या वहाँ जो भी मिले, उसे भगवान् के चरणों में अर्पित करते हुए आगे बढ़ते चले जाना। जब साधक अपनी साधना में मिला हुआ सभी कुछ परमात्मा के चरणों में चढ़ा देता है, यहाँ तक कि अपने आप को भी भगवान् के चरणों में अर्पित कर देता है, तब भगवान् स्वयं उसके पास आते हैं। जब सभी कुछ परमात्मा के चरणों में चढ़ा दिया, उसी प्रभु को वापस सौंप दिया, तो फिर परमात्मा स्वयं अन्तिम भेंट की तरह, अन्तिम उपहार की तरह उसके पास आ जाते हैं।

हालाँकि यह होता तभी है, जब साधक जीवन में मिली समस्त उपलब्धियों को प्रभु को वापस सौंप दे। यदा-कदा गुरु इस भाव को परखने के लिए अपने शिष्य को परीक्षा में डाल देते हैं। एक बार दक्षिणेश्वर के सन्त श्रीरामकृष्ण ने अपने शिष्य नरेन्द्रनाथ दत्त से कहा- ''नरेन! माँ ने मुझे अष्ट सिद्धियाँ व नौ निधियाँ दी हैं। मैं स्वयं तो इनका कोई उपयोग नहीं कर सका, मैं इन्हें तुम्हें देना चाहता हूँ। तुम इन्हें ले लो।'' नरेन्द्रनाथ ने कहा- ''इनका क्या उपयोग है ? क्या इनसे परमात्मा की प्राप्ति हो सकेगी ?''

इस पर श्रीरामकृष्ण ने कहा- ''परमात्मा की प्राप्ति तो इनसे सम्भव नहीं, हाँ! कई आश्चर्यजनक चीजें अवश्य सम्भव हैं।'' यह सुनकर नरेन्द्रनाथ ने कहा- ''तब रखिए, आप इन्हें अपने पास ही। मेरे जीवन में इनका कोई स्थान नहीं है।'' यह उत्तर सुनकर श्री रामकृष्ण ने प्रसन्न होकर कहा- ''तुम्हारी साधना सच्ची है, तुम्हारा विवेक सच्चा है। यह विवेक ही तुम्हें परमात्मा की प्राप्ति का आनन्द देगा।'' यही सच्चे योगी का पथ है।

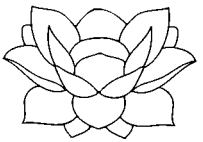

योगी के लिए संभव है परकाया प्रवेश

जीवन यूँ तो बाहरी तौर पर स्वतंत्र दिखाई देता है। स्वतन्त्रता है निर्णय करने की, स्वतन्त्रता है सम्बन्धों को स्वीकार करने अथवा न करने की, स्वतन्त्रता है अपने मनोनुकूल कर्म करने की। और भी ऐसी ही छोटी-बड़ी अनेकों स्वतन्त्रताएँ हैं, जिनके बारे में हम सोच सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। परन्तु यह सोच, हमारी ये अनुभूतियाँ अपनी ये स्वतन्त्रताएँ सतही हैं। तनिक चिन्तन की गहराई में जाने पर, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि इन सतही-स्वतन्त्रताओं की आड़ में अनेको परतन्त्रताएँ हमें बाँधे हैं। कई तरह के बन्धन हमें जकड़े हैं। ये बन्धन राग-द्वेष के हैं, भावनाओं के हैं, अभिरुचि के हैं। ये सभी बन्धन हमारी सारी स्वतन्त्रताओं को अपने इशारे से परतन्त्रताओं में परिवर्तित करते रहते हैं।

सभी स्वतन्त्रताओं को परतन्त्रताओं में परिवर्तित करने का मूल कारण है-कर्म और संस्कार। इच्छा, क्रिया व संकल्प मिलकर कर्म की सृष्टि करते हैं। यदि इच्छा, क्रिया व संकल्प शुभ हुए तो शुभ कर्मों की सृष्टि होती है। यदि ये अशुभ हुए तो अपने आप ही चित्त में अशुभ कर्मों की परत चढ़ती जाती है। इसी तरह कर्मों के साथ जुड़ी हुई शुभ भावनाएँ, शुभ संस्कारों की रचना करती हैं। भावनाओं में पनपे द्वेष व दूषण, संस्कारों को अशुभ बनाते हैं। हमारे चित्त में कर्म व संस्कारों का जो भी जमावड़ा है, उसके परिपाक-प्रारब्ध ने हमें यह जन्म

व जीवन दिया है। चित्त को शरीर से बाँधा है। इनके क्षीण हुए बिना शरीर से छुटकारा सम्भव नहीं है। यदि किसी दुर्योगवश ऐसा हो भी जाय तो भी चित्त को सूक्ष्म शरीर की उसी अवस्था में भटकते रहना पड़ता है।

भटकन से उबरना है, बन्धनों से छुटकारा पाना है, तो कर्म-संस्कारों को भी क्षीण करना पड़ेगा। महर्षि पतंजलि ने स्पष्ट किया है कि सभी तरह की सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में, आत्मज्ञान प्राप्त करने में विघ्न हैं। सिद्धियों का स्वरूप कोई भी क्यों न हो, वे सब आत्मज्ञान में बाधा-विपदा ही हैं। इसीलिए इनके प्रति आकर्षण केवल अज्ञानियों में ही होता है। ज्ञानीजन इन मूढ़ताओं के प्रति कभी भी आकर्षित नहीं होते। वे तो राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होकर बस ईश्वर-समर्पित जीवन जीते हैं। परमात्मा का स्मरण, उन्हीं में सर्वस्व का समर्पण, उन्हें कर्म व संस्कारों के जटिल बन्धनों से मुक्त होकर बस ईश्वरसमर्पित जीवन जीते हैं। परमात्मा का स्मरण, उन्हीं में सर्वस्व का समर्पण उन्हें कर्म व संस्कारों के जटिल बन्धनों से मुक्त करता है।

ये बन्धन ज्यों-ज्यों क्षीण होते जाते हैं, त्यों-त्यों योग साधक में एक सर्वथा नवीन योगशक्ति का विकास व प्रादुर्भाव होता है। योगऋषि पतंजलि इसकी चर्चा अपने अगले सूत्र में करते हैं-

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥ ३/३८॥

शब्दार्थ= **बन्धकारणशैथिल्यात्**= बन्धन के कारण (कर्म व संस्कार) की शिथिलता से; **च**= और; **प्रचारसंवेदनात्**= चित्त की गति का भली प्रकार ज्ञान होने से; **चित्तस्य**= चित्त का; **परशरीरावेशः**= दूसरे के शरीर में प्रवेश (किया जा सकता है)।

भावार्थ= बन्धन के कारण शिथिल पड़ने से और ऊर्जा प्रवाहों की गति सही ढंग से जान लेने से, परकाया प्रवेश सम्भव हो जाता है।

महर्षि का यह सूत्र अद्‌भुत है और लोकदृष्टि से आश्चर्यकारी भी। इसमें मुख्य रूप से तीन सत्यों पर विचार किया गया है। १. बन्धनों के कारण का शिथिल होना, २. ऊर्जा प्रवाहों की गति एवं मार्ग का ज्ञान होना, ३. दूसरे के शरीर में प्रवेश कर पाना। इन तीनों बिन्दुओं पर विचार करने पर परकाया प्रवेश विज्ञान को समझा जा सकता है।

अब सबसे पहली बात है- बन्धनों के कारण का शिथिल होना। इस बिन्दु का सत्य यह है कि चित्त में परिपक्व हुए कर्म और संस्कार, जिन्हें प्रारब्ध की संज्ञा दी गयी है, ये ही जन्म-जीवन एवं शरीर प्राप्ति के कारण हैं। जन्म की प्रक्रिया के साथ ही गर्भकाल में ही चित्त शरीर बन्धन में बँधने लगता है। इसी के साथ ही प्रारम्भ हो जाती है- कर्म व संस्कारों के प्रकट होने की प्रक्रिया। माता-पिता व परिवार का चयन इन्हीं के अनुरूप होता है। जन्म के बाद से लेकर मृत्यु तक भिन्न-भिन्न कर्म व संस्कारों का उदय कालक्रम में होता रहता है। इसी के साथ व इसी के अनुकूल परिस्थितियाँ व घटनाक्रम प्रवर्तित एवं परिवर्तित होते रहते हैं। ज्योतिषशास्त्र जन्म के क्षण को आधार बनाकर इस कालगति की गणना ग्रहदशाओं के साथ करता है और यह सब प्रारब्धकर्मों से संबंधित है।

सामान्य क्रम में यह यान्त्रिक प्रक्रिया अबाध गति से चलती रहती है। इसमें किसी तरह का हस्तक्षेप यदि सम्भव है तो बस कठिन तप, प्रखर स्वाध्याय एवं भावपूर्ण ईश्वरभक्ति से। कठिन तप से कर्म व संस्कार कमजोर पड़ते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न बन्धन शिथिल होते हैं। प्रखर स्वाध्याय से उत्पन्न विवेक, चित्त के ऊर्जा प्रवाहों को भटकने-बहकने नहीं देता। ईश्वरभक्ति से इनकी दशा ऊर्ध्व होती है। ऐसा होने पर जीवनऊर्जा संसार व सांसारिकता से ईश्वर की ओर मुड़ जाती है। इस क्रम की निरन्तरता के साथ चित्त, शुद्ध होने लगता है। साथ ही प्रारब्ध कर्म क्षीण होने से शरीर बन्धन शिथिल पड़ने लगते हैं।

चित्तशुद्धि की प्रक्रिया तीव्र होने के साथ चित्त के ऊर्जाप्रवाहों की गति व मार्ग का ज्ञान स्वतः हो जाता है। चित्त में ऊर्जा प्रवाहों की गतियाँ व मार्ग बहुआयामी हैं। इनके कुछ पथ, विराट ब्रह्माण्ड में खुलते हैं तो कुछ मानवीय शरीर में खुलते हैं। शरीर में ऊर्जा के मार्ग व केन्द्र नाड़ियाँ, ग्रन्थियाँ व चक्र के रूप में स्थापित होते हैं। इनमें से कुछ केन्द्र ऐसे हैं जिनके द्वारा शरीर में प्रवेश सम्भव है, तो कुछ केन्द्र ऐसे हैं जिनके द्वारा प्रवेश सम्भव नहीं है। इन सभी सूक्ष्मताओं का पता चित्तशुद्धि की प्रक्रिया में ही चल पाता है। जो इस प्रक्रिया को पूरा नहीं कर पाते, वे इस विधि-विधान से अपरिचित ही रह जाते हैं। चित्तशुद्धि की प्रक्रिया के दौरान ही आन्तरिक शरीर विज्ञान के रहस्यों का पता चलता है। तभी यह जान पाना सम्भव होता है कि अपने शरीर से बाहर जाने के मार्ग क्या हैं, साथ ही दूसरे के शरीर में प्रवेश करने के द्वार कहाँ हैं ?

इस सम्बन्ध में एक सत्य घटना है जो इस सूत्र के सत्य को स्पष्ट करती है। श्रीअरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी में एक उच्च कोटि के साधक थे- के.डी.सेठना। श्रीअरविन्द ने उन्हें अपना शिष्य स्वीकारने के बाद एक नया नाम दिया था अमल किरन। के.डी.सेठना अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों में थे। श्रीअरविन्द आश्रम आने से पहले वह मुम्बई में रहते थे। अंग्रेजी साहित्य में गहन अभिरुचि के साथ वह नियमित ध्यान करते थे। पूर्वजन्मों में अर्जित आध्यात्मिक संस्कारों के कारण उन्होंने ध्यान में शीघ्र ही प्रगति कर ली। अपने ध्यान की अवस्था में वे अपने चित्त व चेतना में प्रकाश की धाराओं को अनुभव किया करते थे। यही प्रकाश उनके शरीर की नाड़ियों, ग्रन्थियों, चक्रों व अन्य केन्द्रों में प्रवाहित होने लगता था। धीरे-धीरे इसी ध्यान साधना के क्रम में उनके अस्तित्त्व के कुछ ऐसे केन्द्र खुल गए, जिनके द्वारा वे बड़ी आसानी से शरीर से बाहर चले जाते थे। धीरे-धीरे उन्हें इसका अभ्यास हो गया। बाद में वे घण्टों शरीर से बाहर रहा करते और मुम्बई क्षेत्र की सैर कर वापस लौट आया करते थे।

इस क्रम में उनके जिज्ञासु भाव को खोज थी ऐसे मार्गदर्शक की जो उन्हें इस पथ पर और आगे ले जाए। संयोगवश एक दिन जब वे जूते की दुकान से जूता खरीद कर वापस घर आए तो उन्होंने अखबार के उस टुकड़े को ध्यान से देखा, जिसमें जूते लिपटे थे। इस अखबार में श्रीअरविन्द एवं उनके आश्रम की जानकारी थी। बस इसी जानकारी के द्वारा वे पाण्डिचेरी पहुँचे। उन दिनों श्रीअरविन्द सहजता से मिल जाते थे। उन्होंने उनसे अपनी स्थिति बतायी। यह सुनकर श्रीअरविन्द मुस्कराए और बोले- ''अच्छा ठीक है, मैं तुम्हें आन्तरिक शरीर विज्ञान का ज्ञान दूँगा।'' इसके बाद श्रीअरविन्द ने उनके चित्त के उन्हीं के ध्यान के समय उनके शरीर में प्रवेश कर अनेक अवरोधों को दूर किया। साथ ही उन्हें सावधान भी किया कि यथार्थ योग, जीवन का ईश्वरीय रूपान्तरण है। बार-बार शरीर से बाहर निकलना उचित नहीं है। हालाँकि श्रीअरविन्द के मार्गदर्शन में उन्होंने परकाया प्रवेश का विज्ञान जान लिया था। बाद में उन्होंने योग के उच्च सोपानों को प्राप्त किया।

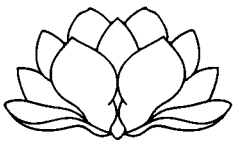

उदान प्राण के संयम से होती है ऊर्ध्व गति

महर्षि पतंजलि का मानना है कि जो जिज्ञासु हैं, योगसाधना में रत हैं, स्वत: ही उनकी अन्तर्चेतना में अन्तर्यात्रा का पथ प्रशस्त हो जाएगा। इसके विपरीत जो केवल तर्क के भरोसे हैं, जो अपनी बौद्धिक उछल-कूद के सहारे इन सूत्रों के मर्म को, अर्थ को जानना चाहते हैं, उनको स्वत: ही हार-थक कर निराश होना पड़ेगा। योग के प्रयोग करने वालों के लिए योगऋषि पतंजलि का कहना है कि पहले अपने शरीर के साथ बने हुए अपने तादात्म्य को तोड़ दो। इसके पश्चात नेत्र मूँद कर अपने शरीर को भीतर से अनुभव करने का प्रयास करो। आन्तरिक रूप से शरीर के अन्त:स्पर्श की कोशिश करो-महसूस करो उसकी भीतरी अनुभूति कैसी है। अपनी एकाग्रता को चरम पर ले जाओ और वहाँ से चारों ओर देखो, तब खुलेंगे आन्तरिक शरीर विज्ञान के रहस्य। तब पता चल पाएगा कि योगी कहाँ से शरीर से बाहर जाता है और कहाँ से शरीर में प्रवेश करता है। ऊर्जा के मार्ग, केन्द्र, नाड़ियों व ऊर्जाक्षेत्र की क्रियाओं व प्राण के रहस्य का बोध हो सकेगा।

ऋषि पतंजलि ने बताया कि बन्धन के कारण अर्थात् कर्म व संस्कार की शिथिलता से और चित्त की गति का भली प्रकार ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश हो सकता है। इस सूत्र में परकाया प्रवेश का सम्पूर्ण विज्ञान समाविष्ट है। हालाँकि यह सांकेतिक विवरण केवल उन्हीं के लिए है जो अपने

मार्गदर्शक के साथ साधना कर रहे हैं। जिनके पास केवल कौतुक-कौतुहल है, जो सद्गुरु के सान्निध्य व साधना से वंचित हैं, उनके समक्ष इस सूत्र का सत्य स्पष्ट न हो सकेगा। महर्षि ने इसे सूत्र में छिपा रखा है। उन्होंने आन्तरिक शरीरविज्ञान को अपने सूत्रों में स्पष्ट नहीं किया है। वास्तविक घटना तो सद्गुरु व शिष्य की अन्तरंगता में घटित होती है। तभी साधक की अन्तर्चेतना में आन्तरिक शरीरविज्ञान के रहस्य स्पष्ट हो पाते हैं। ऐसे ही रहस्यों की अगली कड़ी को वह अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं-

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३/३९॥

शब्दार्थ= **उदानजयात्**= उदान वायु को जीत लेने से; **जलपङ्ककण्टकादिषु**= जल, कीचड़, कण्टकादि से; **असङ्गः**= उसके शरीर का संयोग नहीं होता; **च**= और; **उत्क्रान्तिः**= ऊर्ध्वगति भी होती है।

भावार्थ= उदान प्राण या उदना-ऊर्जा प्रवाहिनी को सिद्ध करने से, योगी पृथ्वी से ऊपर उठता है और किसी आधार, किसी सम्पर्क के बिना कीचड़, कांटों को पार कर लेता है।

उदान प्राण के पाँच प्रकारों में से एक है। योगीजनों का अनुभव है कि व्यक्ति में प्राण के पाँच अलग-अलग रूप, क्रियाएँ व ऊर्जाक्षेत्र विद्यमान हैं। सामान्यजन के लिए तो प्राण का एक ही परिचय है- श्वास। बहुत अधिक हुआ तो श्वास लेना और श्वास छोड़ना अर्थात् श्वास-प्रश्वास। लेकिन योगियों के अनुभव अधिक सूक्ष्म हैं। इसी के बल पर उन्होंने प्राण तत्त्व के पाँच भेद निर्धारित किए हैं- १. प्राण, २. अपान, ३. समान, ४. उदान, ५. व्यान। इनमें से प्राण, श्वसन क्रिया को संचालित करता है। अपान मलोत्सर्ग में मदद करता है। आँतों की सफाई इसी से होती है। सामान्य क्रम में आँतों की सफाई कभी ढंग से नहीं हो पाती। आँतों में बहुत सा कचरा व मल भरा रहता है। सारे जीवन, मल की परतें चढ़ती व सूखती रहती हैं।

आँतें सही से साफ हो जाएँ, तो शरीर में पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव कम हो जाता है। तभी तो योगियों ने पेट की सफाई पर बहुत जोर दिया है। हठयोग के विशेषज्ञों ने इसके लिए अनेकों उपाय भी खोजे हैं। पेट के भीतर विषैले पदार्थ बने रहने पर वे रक्त में प्रवाहित होते रहते हैं और मस्तिष्क में चक्कर काटते रहते हैं। इसके प्रभाव से व्यक्ति के आसपास एक नकारात्मक

ऊर्जाक्षेत्र बन जाता है, जो उसे चिड़चिड़ा, बोझिल व उदास बनाए रखता है। आँतों के साफ हो जाने पर व्यक्ति के सिर के आस-पास एक प्रकाशपूर्ण आभामण्डल बन जाता है। सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न लोग इसे सहजता से देख सकते हैं। आँतें साफ हो जाने पर व्यक्ति को इतना हल्कापन लगता है जैसे वह हवा में उड़ रहा हो।

समान प्राण का कार्य है- पाचन क्रिया सम्पन्न करना व शरीर को ऊष्मा प्रदान करना। यदि शरीर में समान प्राण सही ढंग से क्रियाशील है, तो पाचन क्रिया में कभी परेशानी नहीं होती। प्राय: देखा जाता है कि भोजन तो बहुत-सा कर लिया जाता है, लेकिन उसका सही ढंग से पाचन नहीं हो पाता। बहुत सारा भोजन कर लेने पर भी मन सन्तुष्ट नहीं होता। यदि समान की सक्रियता सही हो तो थोड़ा-सा भोजन भी शरीर को पर्याप्त ऊर्जा देने में समर्थ होता है। यही वजह है कि योगी अल्प आहार ग्रहण करते हैं और सदा स्फूर्तिवान रहते हैं। यहाँ तक कि ऊर्जावान बने रहकर अनेको दिन, उपवास कर लेते हैं। समान का एक कार्य यह भी है कि शरीर में ऊष्मा ठीक तरह से बनी रहे। तिब्बत के लामा योगियों ने इस कार्य के लिए लयपूर्ण श्वास की विधि विनिर्मित की है। उनकी इस विधि से समान की ऊष्मा किरणें शरीर में एक विशेष ढंग से क्रियाशील रहती हैं और वे बर्फ में आराम से बिना कपड़ों के रह लेते हैं।

चौथा प्राण उदान है। इसी की चर्चा महर्षि ने अपने इस सूत्र में की है। उदान का सामान्य कार्य है-वाणी व सम्प्रेषण। यदि उदान के प्रवाह को सही कर लिया जाय तो व्यक्ति बोलने में, भाषण देने में, गीत गाने में अलौकिक सम्मोहन की सृष्टि कर सकेगा। उसकी आवाज में ऐसा चुम्बकत्व होगा कि लोग बरबस खिंचे चले आएँगे। उदान प्राण का वास कण्ठ में है और इसकी गति ऊपर की ओर है। यह कण्ठ से सिर की ओर गमन करता है। इसकी गति को पहचान लेने पर केवल स्वर में सम्मोहन नहीं होता, बल्कि स्वयं के साथ समस्वरता सधती है। ऐसा होने पर व्यक्ति का शरीर रुई की भाँति हल्का हो जाता है क्योंकि उदान ही है जो व्यक्ति को पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से जोड़कर रखता है। योगियों का अनुभव कहता है कि गुरुत्वाकर्षण के साथ जो मनुष्य का सम्बन्ध है, वह उसके अन्तर-अस्तित्व से ही है, वह उसके भीतर से ही है, उसे तोड़ा भी जा सकता है।

बहुत से लोगों ने कई बार ऐसा अनुभव भी किया है। ध्यान करते समय अचानक ऐसा लगता है जैसे कि हम जमीन से ऊपर उठ गए हैं। हालाँकि जब

हम आँखें खोलते हैं तो स्वयं को जमीन पर बैठा हुआ पाते हैं। जब फिर से आँखें बन्द करते हैं तो फिर से ऐसा लगता है कि जमीन से ऊपर उठ रहे हैं। यह तो ठीक है कि इस अनुभूति में हमारा भौतिक शरीर ऊपर नहीं उठता, लेकिन हमारे भीतर गहरे में कुछ टूटता है। यह टूटना हमारे और गुरुत्वाकर्षण के बीच एक अन्तराल पैदा कर देता है। इसलिए यदि यह टूटन गहरी हो जाए, तो वह घटना अवश्य घटित होगी, जिसकी चर्चा महर्षि ने इस सूत्र में की है। अर्थात् इसकी सिद्धावस्था में, योगी पृथ्वी से ऊपर उठ जाता है और बिना किसी आधार, बिना किसी सम्पर्क के पानी, कीचड़, कांटों को पार कर लेता है।

युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव ने अपनी ऐसी ही एक अनुभूति की चर्चा हिमालय यात्रा के सन्दर्भ में की है। इस प्रकरण में उन्होंने लिखा है कि जब उनकी मार्गदर्शक सत्ता के वीरभद्र उन्हें उनके पास ले गए तो वह हिमाच्छादित पर्वत को बर्फ के बिना स्पर्श किए सतह से थोड़ा ऊपर उठकर उनके पास पहुँचे। उदान प्राण की विशिष्टता की चर्चा प्रश्नोपनिषद् में भी मिलती है- **अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुमाभ्यामेव मनुष्य लोकम्।(प्रश्नोपनिषद् ३/७)।** अर्थात् तथा एक नाड़ी और है उसके द्वारा उदान वायु, ऊपर की ओर विचरता है। वह पुण्यकर्मों के द्वारा मनुष्य को पुण्यलोकों में ले जाता है। पापकर्मों के द्वारा उसे पाप योनियों में ले जाता है। पाप व पुण्य दोनों कर्मों के द्वारा जीव को मनुष्य शरीर में ले जाया जाता है।

इस उदान प्राण के अलावा पाँचवा प्राण व्यान है। इसका कार्य है- समन्वय व संघटन। यह पाँचवा प्राण जब शरीर को छोड़ता है तभी व्यक्ति की वास्तविक मृत्यु होती है। इस पाँचवें प्राण के रहते श्वास प्रक्रिया रुक जाने पर भी व्यक्ति जीवित रहता है। इसी के आधार पर कई बार योगाभ्यास करने वाले दिल व मस्तिष्क की क्रियाशीलता बन्द कर जीवित रहते हैं जबकि चिकित्सक उनकी मृत्यु का प्रमाण पत्र दे देते हैं। पाँचवें प्राण की प्रक्रिया अत्यधिक सूक्ष्म है। इसी धागे से व्यक्ति जैविक एकता में बंध कर रहता है। इस पाँचवें प्राण को भली प्रकार जानकर ही परमात्मा को जाना जाता है। परमात्मा में व्यान की व्यापकता है। तभी तो वह सम्पूर्ण अस्तित्त्व को, सारे ब्रह्माण्ड को सूरज, चाँद, तारों को अपने से जोड़े हुए है।

जठराग्नि को प्रदीप्त करने की साधना

जीवन की वर्तमान अवस्था में खुशियाँ खो सी गयी हैं। हालाँकि इन्हें खोज हर कोई रहा है। मजे की बात यह है कि जितनी खुशियाँ खोजी जाती हैं, उतनी ही वे खोयी जाती हैं। खोजने की तीव्रता इन्हें खोने की तीव्रता बन जाती है। कारण बस इतना ही है कि हमारी खुशियाँ खोजने का ढंग जीवन का विरोधी है। कैसी विडम्बना है कि जीवन की खुशियाँ हम निर्जीव वस्तुओं में खोजते हैं। कागज के टुकड़े, धातुओं के टुकड़े, रंग-बिरंगे पत्थर, मिट्टी का टुकड़ा, ईंटों का ढेर, ये भला हमें खुशियाँ कैसे दे सकते हैं ? रुपए कागज के टुकड़े ही तो हैं, सोना-चाँदी धातुओं के टुकड़ों के सिवा और क्या हैं ? जिन्हें हीरे-जवाहरात कहा जाता है, वे सभी रंग-बिरंगे पत्थरों के सिवा और क्या हैं ? जमीन, मकान, मिट्टी के टुकड़े और ईंटों के ढेर के सिवा और कुछ भी तो नहीं। ये सभी जीवनरहित हैं, ऐसे में जीवन में खुशियाँ लाने में कैसे समर्थ हो सकते हैं ?

जीवन की खुशियाँ जीवन में ढूँढ़नी होंगी। महर्षि पतंजलि अपने सूत्रों में हमें यही सिखाते हैं। योग की यात्रा का आरम्भ केवल तभी होता है जब कोई इस सूत्र को समझ लेता है कि बेकार की भागदौड़ में जीवन का स्वर्णिम अवसर खोया जा रहा है। हमें प्रेम के पथ पर, परिष्कार के पथ पर, प्रकाश के पथ पर चलना होगा। अभी व इसी क्षण इसकी शुरुआत करनी होगी। फिर तो जीवन खिल उठेगा, खिल उठेंगे अपने प्राण। अनुभव होने लगेगा उन विभूतियों का,

जिनकी चर्चा महर्षि अपने सूत्रों में कर रहे हैं। अभी तो प्राण जैसे-तैसे पृथ्वी पर घिसट रहे हैं, खड़े होकर चल भी नहीं पा रहे हैं। इन्हें रूपान्तरण का रसायन चाहिए।

प्राण रूपान्तरण के इस क्रम में योग ऋषि पतंजलि अब समान प्राण की चर्चा करते हैं। समान प्राण की विभूति उनके अगले सूत्र में स्पष्ट की गयी है-

समानजयाज्ज्वलनम्॥ ३/४०॥

शब्दार्थ= **समानजयात्**= (संयम द्वारा) समान प्राणवायु को जीत लेने से; **ज्वलनम्**= (योगी का शरीर) दीप्तिमान हो जाता है।

भावार्थ= समान ऊर्जा प्रवाहिनी को सिद्ध करने से योगी अपनी जठर अग्नि को प्रदीप्त कर सकता है। इससे उसका शरीर कान्तिमान हो जाता है।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में समान प्राण की विभूति को स्पष्ट करते हैं। योगियों ने चिर-पुरातन काल से प्राण पर गम्भीर व गहन अनुसन्धान किए हैं। शरीर की अपेक्षा उन्होंने प्राणऊर्जा पर कहीं अधिक कार्य किया। आधुनिक विज्ञान ने भी कुछ ऐसा ही किया है। विज्ञान ने जितने अधिक अन्वेषण किए, अपने अनुसन्धान की गहराई में जितना अधिक वे गए, उतना ही उन्होंने जाना कि वास्तविक अस्तित्त्व ऊर्जा का है, पदार्थ का नहीं। पदार्थ तो बस एक भ्रान्ति भर है। ऊर्जा इतनी तीव्रता से, इतनी अद्‌भुत गति से बढ़ती है कि वह ठोस होने का भ्रम देती है। यह ठोसपन बस एक भ्रान्ति है। इसीलिए अध्यात्मशास्त्र कहते हैं कि केवल परमात्मा अर्थात् परम ऊर्जा सत्य है, जगत का ठोस दिखलाई देना भ्रान्ति है। हमारे कमरे की दीवारें, इनका ठोस होना एक भ्रान्ति है। ये ठोस बस इसलिए दिखलाई पड़ती हैं क्योंकि ऊर्जाकण-इलेक्ट्रॉन इतनी तीव्रगति से घूम रहे हैं कि इनकी गति देखी नहीं जा सकती।

योगशास्त्र का कहना है कि विज्ञान की यह खोज कोई नया अन्वेषण नहीं है। यह तो बस पुनर्अन्वेषण है। योग ने यह सत्य तो हजारों साल पहले अनुभव कर लिया था। योग ने ऊर्जा को प्राण कहा और इसे ही जीवन की वास्तविकता बतलाया। यह प्राण शब्द महत्त्वपूर्ण व अर्थपूर्ण है। इसके दो अक्षरों में एक है प्रा- जिसका अर्थ है ऊर्जा की प्राथमिक इकाई, ऊर्जा की सर्वाधिक आधारभूत इकाई। और ण का अर्थ है- ऊर्जा। तो प्राण का अर्थ हुआ ऊर्जा की सर्वाधिक आधारभूत इकाई। पदार्थ तो केवल सतह पर है ऊपर-ऊपर है। प्राण ही है

वास्तविक, और ये वस्तु नहीं है। यह तो ऊर्जा है, जो प्रकट नहीं है, साकार नहीं है। साकार तो शरीर है। प्राण तो जीवन की प्रत्येक घटना के साथ है और प्रत्येक घटना के पार है। फिर भी यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व आधारभूत इकाई है।

सम्पूर्ण जीवन का व्यापक आधार यही प्राण है। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, कंकड़-पत्थर और परमात्मा, सभी को अलग-अलग तल पर समझा गया है जबकि वे सभी एक ही प्राण की अभिव्यक्ति हैं। वही प्राण अलग-अलग रूपों में, अलग-अलग तरह से अभिव्यक्त होता है। लेकिन फिर भी आधारभूत इकाई के रूप में एक ही है। जब तक हम अपने भीतर के प्राण को नहीं जान लेते, तब तक परमात्मा को भी नहीं जान पाएँगे। इसीलिए ब्रह्मविद्या के रूप में उपनिषदों में प्राणविद्या की चर्चा हुई है। इनमें कहा गया है कि यदि परमात्मा को प्राण के रूप में हम स्वयं के भीतर नहीं अनुभव कर सकते, तो उसे बाहर भी अनुभव नहीं कर पाएँगे क्योंकि प्राण के रूप में वह निकटतम है।

महर्षि पतंजलि ने ऊर्जा का यह सच आइंस्टीन से हजारों साल पहले जान लिया था। योग ने जो सत्य हजारों वर्ष पूर्व जाना, वह विज्ञान हजारों साल बाद जान सका। इसका कारण बस इतना रहा कि विज्ञान ने अपने प्रयास बाहर-बाहर किए, जबकि योगऋषि पतंजलि व अन्य योगियों ने उसे अपने ही अस्तित्त्व की गहराई में डुबकी लगाकर जाना। यह उनका आत्मगत अनुभव था, जबकि विज्ञान ने उसे जानने की वस्तुगत कोशिशें की। किसी सत्य या तत्त्व के बारे में वस्तुगत जानना हो तो रास्ता लम्बा हो जाता है। लेकिन यदि उसे आत्मगत रूप में अनुभव करना हो तो समझो कि हमने उसे जानने का सबसे छोटा रास्ता खोज लिया। सामान्यक्रम में हमें कुछ भी पता नहीं है कि हम कौन हैं ? कहाँ हैं ? हम यहाँ क्या कर रहे हैं ? ये सवाल हमेशा ही जस के तस रहने वाले हैं। जब तक कि हम उस स्रोत को ही न जान लें। जब तक अपने प्राण, अपनी ऊर्जा की अनुभूति न कर लें।

योगशास्त्र ने इस प्राणतत्त्व की गहन अनुभूति प्राप्ति का विवरण दिया है। यहाँ पर जिस समान प्राण की बात कही जा रही है, उसका सम्बन्ध जठराग्नि से है। यह जठराग्नि हमारे जीवन का केन्द्र है व स्वास्थ्य की समस्त गतिविधियाँ इसी के आस-पास घूमती हैं। इसीलिए तिब्बत में चिकित्सक की जो परीक्षा ली जाती है, उसमें यह भी एक परीक्षा है। जब तिब्बत में कोई चिकित्सक बनता है तो पहले उसे एक परीक्षा देनी होती है, जिसमें उसे अपनी जठराग्नि को निर्मित

करना पड़ता है। इसके लिए उसे पूरी रात गिरती बर्फ में बाहर खड़े रहना पड़ता है। रात में नौ बार परीक्षक आता है और हर बार शरीर छू कर देखता है कि उसे पसीना आ रहा है या नहीं ? अगर वह उतनी ऊष्मा शरीर में निर्मित कर सकता है तो समझो वह समान प्राण का मालिक हो गया, अब वह चिकित्सक बन सकता है। उसने शरीर ऊष्मा पर काबू पा लिया है, अब वह मरीजों की शरीर ऊष्मा पर कार्य कर सकता है।

समान ऊर्जा प्रवाहिनी को सिद्ध करने से न केवल भोजन को आसानी से और पूरी तरह से पचाया जा सकता है बल्कि इस जठर अग्नि के सही रीति से प्रज्ज्वलित होने से पूरी देह के आस-पास एक विशेष आभामण्डल बन जाता है। इस विशेष प्रकार की अग्नि से एक तरह की जीवन्तता का आविर्भाव हो जाता है। यह अग्नि, योगी के शरीर को शुद्ध करने में सहयोगी होती है क्योंकि यह अग्नि भीतर के कूड़े-कचरे को, दुर्गन्ध को, उस सबको जो वहाँ नहीं रहना चाहिए, उसको जला देती है। जठर अग्नि शरीर के भीतर की सारी अशुद्धियों और विषतत्त्वों को जलाकर नष्ट कर देती है। इस समान प्राण को यानि कि इससे संचालित जठर अग्नि को अगर सच में समग्ररूपेण प्रज्ज्वलित किया जा सके, तो यह मन को भी जला सकती है। इस अग्नि में विचार जलकर राख जो सकते हैं, इच्छाएँ जलकर भस्म हो सकती हैं।

इस क्रम में महर्षि पतंजलि कहते हैं अगर एक बार इस अग्नि को जान लिया गया, एक विशेष प्रकार की श्वास प्रक्रिया से इस प्राणऊर्जा को पा लिया गया, इसे अपने भीतर संचित कर लिया गया तो आकांक्षा का बीज जलकर राख हो जाता है। उसके बाद जन्म नहीं होता है क्योंकि ऐसी स्थिति में कर्म, संस्कार व आकांक्षाओं के सारे बीज जलकर राख हो जाते हैं। जहाँ जीवन के बीज ही नहीं बचे रह गए, तो फिर वहाँ जीवन के अंकुर कैसे फूट सकेंगे। समान प्राण का प्रभाव ऐसा अद्‌भुत व आश्चर्यपूर्ण है। इसके समग्र विकास से योग साधक का व्यक्तित्व व अस्तित्त्व प्रकाशपूर्ण हो जाता है। उसकी देह पर इसके प्रभाव आ जाते हैं और देह कान्तिपूर्ण, प्रकाशपूर्ण हो जाती है।

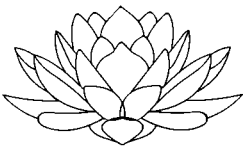

पराभौतिक श्रवणशक्ति की प्राप्ति

अन्तर्यात्रा विज्ञान जीवन एवं प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों को, इनके पारस्परिक सम्बन्धों को परिभाषित करता है। आधुनिक विज्ञान के लिए जो सर्वथा अगम है, वह यहाँ सर्वदा सुगम है। विज्ञान का विकसित व आधुनिक रूप भी पदार्थ व उसमें समाविष्ट ऊर्जा की चर्चा व चिन्तन में स्वयं को समेटे हुए है। लेकिन अन्तर्यात्रा विज्ञान में न केवल पदार्थ की सूक्ष्मताओं का विवेचन है, बल्कि अपने जीवन से इसके सम्बन्धों को परिभाषित व परिवर्तित करने वाले गहन प्रयोग हैं। बात जब पंचमहाभूतों की होती है तो ये पदार्थ की ही क्रमिक प्रगतिशील सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। पृथ्वी पदार्थ का सर्वाधिक स्थूल रूप है तो जल इससे कहीं अधिक सूक्ष्म। अग्नितत्त्व में यह सूक्ष्मता विकसित होकर वायुतत्त्व में और अधिक सूक्ष्म हो जाती है। आकाशतत्त्व में तो यह चरम पर पहुँच जाती है। इन पंच महाभूतों का अधिक सूक्ष्म विवरण इनसे सम्बन्धित तन्मात्राओं में है। पृथ्वी के साथ गन्ध, जल के साथ रस, अग्नि के साथ रूप, वायु के साथ स्पर्श एवं आकाश के साथ शब्द का संयोग जुड़ा है।

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग में लीन योगसाधक इन्हें अपनी अनुभूतियाँ बना लेता है। इतना ही नहीं वह अपने जीवन के साथ इनके सम्बन्धों की सूक्ष्मता को पहचान कर इनसे सम्बन्धित विभूतियों का अधिकारी बनता है। इस योगकथा में समान प्राण से सम्बन्धित विभूति का विवरण प्रकाशित किया गया है।

इसमें बताया गया था कि समान ऊर्जा प्रवाहिनी को सिद्ध करने से योगी अपनी जठर अग्नि को प्रदीप्त कर सकता है। इससे उसका शरीर कान्तिमान हो जाता है। समान प्राण जठर अग्नि से सम्बन्धित है। सामान्य क्रम में समान प्राण की चर्चा योगशास्त्र में एवं जठर अग्नि की चर्चा आयुर्वेदशास्त्र में की गयी है। इनके सम्बन्धों का सम्यक् स्वरूप योगी की अनुभूति बनता है। वह समान प्राण को विकसित करके जठर अग्नि को इतना प्रदीप्त कर लेता है कि शरीर की, जीवन की सभी विषाक्तताएँ नष्ट हो जाती हैं और तब ऐसी स्थिति में उसका शरीर स्वयं ही कान्तिमान हो उठता है।

पंच महाभूतों में इस अग्नितत्त्व व उसकी तन्मात्रा रूप की चर्चा करने के बाद महर्षि पतंजलि आकाश तत्त्व व इससे सम्बन्धित तन्मात्रा शब्द को स्पष्ट करते हैं। इसे उनके अगले सूत्र में प्रकट किया गया है-

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्॥ ३/४१॥

शब्दार्थ= **श्रोत्राकाशयोः**= श्रोत्र (कान) और आकाश के; **सम्बन्धसंयमाद्**= सम्बन्ध में संयम कर लेने से (योगी के); **श्रोत्रम्**= श्रोत्र (कान); **दिव्यम्**= दिव्य हो जाते हैं।

भावार्थ= आकाश और कान के बीच के सम्बन्ध पर संयम करने से पराभौतिक श्रवणशक्ति उपलब्ध हो जाती है।

महर्षि पतंजलि अपने इस सूत्र में कहते हैं- श्रोत्र इन्द्रिय-कान, शब्द एवं आकाश में सघन सम्बन्ध है। कान व शब्द का सम्बन्ध तो हम सभी प्रतिदिन अनुभव करते हैं। लेकिन इनके बीच में आकाश की बात थोड़ी अटपटी सी लगती है। अध्यात्मशास्त्र में कहे गए वचनों को सुनें, तो उनका कहना है कि शब्द को सुनने वाली श्रोत्र इन्द्रिय का सम्बन्ध अहंकार से है। यह अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय 'मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' का प्रधान तत्त्व है। आकाश सम्बन्ध भी इसी से है। इसलिए आकाश, शब्द एवं श्रोत्र इन्द्रिय अर्थात् कान, इन तीनों के बीच सम्बन्ध सघन है। हालाँकि ये सम्बन्ध सामान्य अनुभूति में नहीं होते, इनका प्रत्यक्षीकरण गहन एकाग्रता या संयम अवस्था में ही होता है।

कान व शब्द की अनुभूति तो हमें होती ही रहती है। बात आकाश को समझने की है। आकाश शब्द संस्कृत का है। अंग्रेजी भाषा में इसे ईथर कहा

गया है। इस ईथर शब्द से पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था का बोध हो जाता है। पदार्थ की सूक्ष्मतम अवस्था होते हुए भी आकाश अधिक व्यापक, विराट व बोधगम्य है।

आकाश का अर्थ है वह अन्तराल, वह शून्यता- जो सभी को घेरे हुए है। आकाश का अर्थ वह महाशून्य है जिससे हर चीज आती है और उसी में विलीन हो जाती है। वह अनन्त अनादि सूक्ष्मता जो प्रारम्भ से है और सबसे अन्त में वही बची रहेगी। सब कुछ इसी शून्यता से आता है और अन्त में वहीं विलीन हो जाता है। आकाश को शून्य कहे जाने के बावजूद इसमें न तो कोई नकारात्मकता है और न ही कोई रिक्तता अथवा खालीपन। इस शून्यता में समस्त सम्भावनाएँ समाहित हैं। इसमें अनन्त शक्तियाँ छिपी हुई हैं। इसमें सभी कुछ सकारात्मक है। हालाँकि इसका कोई आकार नहीं है और न ही इसका कोई रूप है।

योगसूत्रकार महर्षि कहते हैं- यही आकाश जिसका कोई आकार नहीं है, जो सबमें समाया और सबके चारों ओर है, जिसका सम्बन्ध कान से है, उस पर संयम करने से दिव्य श्रवण शक्ति प्राप्त होती है। दिव्य श्रवण शक्ति का तात्पर्य है सुनने की सम्पूर्ण क्षमता। अभी हममें यह क्षमता अपूर्ण है। हम जो सुनते हैं, सुन सकते हैं, वह आधा-अधूरा है। बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम सुन नहीं सकते हैं। कोई पशु-पक्षी हमसे ज्यादा या कम सुनते हैं, जो ये जीव-जन्तु सुन सकते हैं, वह हम नहीं सुन पाते। इस सच को वर्तमान ध्वनि-विज्ञान ने भी स्वीकार किया है। प्रकृति की सूक्ष्म ध्वनियाँ, अदृश्य संवेदन ये जीव-जन्तु हम मनुष्यों से कहीं अधिक अनुभव करते हैं।

योग की खोज यह है कि सुनने की समस्वरता आकाश से जुड़ी हुई है। आकाशतत्त्व से सघन सम्पर्क या सम्बन्ध हमारी सुनने की क्षमता को बढ़ा सकता है। जिन जीव-जन्तुओं को प्रकृति ने सहज में यह क्षमता दे रखी है, उनकी सुनने की क्षमता स्वाभाविक रूप से हमसे कहीं अधिक है। योग के प्रयोग से, संयम की साधना से हम भी अपनी इस क्षमता को सम्पूर्ण बना सकते हैं। अपनी सुनने की शक्ति के अधूरेपन को पूरा कर सकते हैं। योग के अनुसंधान कहते हैं कि ध्वनियाँ आकाश में, ईथर में निर्मित होती हैं और देह के भीतर जो कान हैं, उनका जुड़ाव आकाश से होता है। जैसे कि आँखों का जुड़ाव सूर्य से है, उसी तरह कान आकाश से जुड़े हुए हैं। अगर संयम साधना से

योगसाधक अपनी समाधि को आकाश और कान से जोड़ ले, तो वह जो भी सुनना चाहे, सब कुछ सुन सकता है।

सामान्यतया योग की यह विभूति बड़ा अनोखा चमत्कार लगती है। लेकिन इसके पीछे एक सहज वैज्ञानिकता है, प्रकृति के सहज नियम हैं। ठीक उसी तरह के सत्य इसमें निहित हैं जैसे कि टेलीविजन एवं रेडियो की यान्त्रिकी में हैं। बस बात समस्वरता की है। अगर हमारे कान आकाश के साथ एक विशेष समस्वरता को पा लें तो हम वह सब सुन सकते हैं जो सामान्यक्रम में नहीं सुना जा सकता है। किसी वस्तु से ढके हुए शब्द को भी सुनना सम्भव है। और जो शब्द किसी सुदूर स्थान पर बोला जाय, उसे भी सुना जा सकता है। क्योंकि आकाश सर्वव्यापी है, इस कारण उसके अन्दर कहीं भी होने वाला शब्द तत्काल सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

अत: जिसकी श्रोत इन्द्रिय या कान की क्षमता दिव्य हो जाती है, वह चाहे जिस शब्द को, जहाँ पर हो, वहीं सुन सकता है। केवल इतना ही नहीं, वह उन शब्दों को भी सुन सकता है जो हजारों साल पहले कहे अथवा बोले गए थे। इस विधि से बुद्ध के उपदेशों को फिर से उन्हीं की वाणी में सुना जा सकता है। कुरुक्षेत्र की युद्धभमि में श्रीकृष्ण द्वारा कही गयी व अर्जुन द्वारा सुनी गयी श्रीमद्भगवद्गीता की वाणी फिर से सुनी जा सकती है। जीसस क्राइस्ट को पर्वतोपदेश या सर्मन ऑन माउन्ट देते हुए फिर से सुना जा सकता है। क्योंकि जिस अवस्था में जो कुछ भी इस अस्तित्त्व में कहा गया है अथवा बोला गया है, अब भी वह सबका सब आकाश में संग्रहित अथवा संचित है। वह कभी भी इस अस्तित्त्व से, आकाश से बाहर नहीं जाता। वह कभी भी नहीं मिटता। वह सबका सब सूक्ष्म रूप से हमेशा विद्यमान रहता है। थियोसाफी समुदाय में इसे 'आकाशी रिकार्ड' कहते हैं। हर चीज आकाश में टेप है, बस उसे सुनने की कुञ्जी खोजनी है। महर्षि पतंजलि कहते हैं वह कुञ्जी, कान और आकाश के बीच सम्बन्ध पर संयम है।

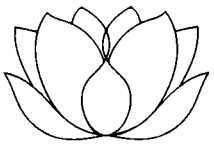

आकाशगमन का योगविज्ञान

जैसे-जैसे साधक के जीवन व चेतना में प्रयोग परिपक्व एवं प्रगाढ़ होते हैं, वैसे-वैसे परिवर्तित होने लगती हैं अनुभूतियाँ। जो जीवनक्रम अभी तक स्थूल जगत की सीमाओं तथा पदार्थों के अनुभव तक सीमित था, उसकी सीमाएँ व्यापक होने लगती हैं। अनुभव में आने लगते हैं, स्थूल जगत व सूक्ष्म जगत के सम्बन्ध।

पदार्थ की अनूभूति के साथ स्वत: ही चेतना की सघनता प्रत्यक्ष होने लगती है। स्पष्ट होने लगता है कि जो कुछ दृश्य है केवल वही सत्य नहीं है। अदृश्य का अस्तित्त्व भी तथ्य है। इस व्यापकता में जीवन के नए गवाक्ष खुलते हैं और नए आयाम उद्घाटित होते हैं। इसी के साथ आगमन होने लगता है- नयी शक्तियों का, नयी विभूतियों का। प्रत्यक्ष होने लगता है यह तथ्य कि सामान्य ज्ञान जिसे चमत्कार कहता है, वह दरअसल एक उच्चस्तरीय विज्ञान है।

प्रयोग यदि त्रुटिहीन हों तो निश्चित ही परिणाम ठीक वैसे ही होंगे जिसे महर्षि पतंजलि ने अपने सूत्रों में कहा है। कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योग साधक की श्रवण क्षमता दिव्य हो जाती है। अभी सामान्य क्रम में हमारी सुनने की क्षमता भी सामान्य है। यहाँ तक कि बहुत कुछ ऐसा है जिसे पशु-पक्षी तो सुन सकते हैं, परन्तु हम नहीं सुन सकते। प्रकृति की हलचलें- जैसे कि भूकम्प, तूफान आदि की आहट इन अनपढ़-नासमझ कहे जाने वाले

प्राणियों को सहज सुनायी दे जाती हैं। लेकिन हम पढ़े-लिखे समझदार कहे जाने वाले मनुष्यों के स्वयं के संवेदन इन्हें अनुभव नहीं कर पाते। यहाँ तक कि प्राय: हमारे उच्चस्तरीय वैज्ञानिक अविष्कार और इनसे सम्बन्धित वैज्ञानिक उपकरण भी हमें सत्य की सूचना देने में असफल रहते हैं। लेकिन योग की संयम विधि से हम सभी ध्वनियों को आसानी से सुन सकते हैं।

योग साधना की संयम विधि से श्रवण क्षमता का दिव्य रूपान्तरण सम्भव है। यह कहने के बाद वे एक अन्य विभूति का सत्य अपने अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं-

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ३/४२॥

शब्दार्थ= **कायाकाशयोः**= शरीर और आकाश के; **सम्बन्धसंयमात्**= सम्बन्ध में संयम करने से; **च**= और; **लघुतूलसमापत्तेः**= हलकी वस्तु (जैसे रुई आदि) में संयम करने से; **आकाशगमनम्**= आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है।

भावार्थ= शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर संयम ले आने से और साथ ही भारविहीन चीजों जैसे रुई आदि से अपना तादात्म्य बना लेने से योगी आकाशगामी हो जाता है।

पुराणों में, योगकथाओं में, सिद्धों के जीवनप्रसंगों में आकाशगमन के अनेक घटनाक्रम पढ़ने सुनने को मिलते हैं। इन्हें पढ़ते हुए, सुनते हुए ऐसा लगता है कि ये सभी घटनाप्रसंग या तो केवल काल्पनिक हैं अथवा फिर इन्हें असम्भव चमत्कार की श्रेणी में रखा जा सकता है। महर्षि पतंजलि इन्हें न तो कल्पना कहते हैं और न ही चमत्कार। वे अपने इस सूत्र में आकाशगमन का विज्ञान स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि शरीर और आकाश का जो सम्बन्ध है, उसे संयम द्वारा प्रत्यक्ष करने पर ऐसी घटना घटित हो सकती है। प्रश्न यह है कि शरीर व आकाश के बीच क्या सम्बन्ध है ?

प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र कहता है कि हमारा शरीर पंच महाभूतों से विनिर्मित है। ये पंच महाभूत हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। अपने जीवनक्रम में हम किसी न किसी रूप में इनका अनुभव भी करते हैं। हमारा अपना शरीर जिसे हम नित्य-प्रति के जीवन में अनुभव करते हैं, वह पृथ्वी तत्त्व

की प्रधानता से बना हुआ है। इसके पोषण के लिए अन्न-शाक आदि के रूप में हम पृथ्वी तत्त्व को ही ग्रहण करते हैं।

इनमें से दूसरा तत्त्व जल तो जीवन का पर्याय ही है। जल को हम दिन में कई बार ग्रहण करके जीवन को अभिसिंचित करते हैं। शरीर में होने वाली अनेकों रासायनिक क्रियाएँ इसी से सम्भव हो पाती हैं। रक्त परिसंचरण आदि की व्यवस्था में जल ही कारण है। शरीर का तीसरा तत्त्व अग्नि है। भूख-प्यास आदि के रूप में हमें अग्नि की अनुभूति होती रहती है। अग्नि तत्त्व के कारण ही हमें भूख लगती है। इसी की वजह से हमारे भोजन का पाचन सम्भव हो पाता है। इससे जो ऊष्णता बढ़ जाती है, उसी के शमन के लिए हम पानी पीते हैं।

शरीर में वायु तत्त्व की अनुभूति हमें श्वसन क्रिया के रूप में प्रतिक्षण होती रहती है। यह प्रक्रिया यदि थोड़े समय के लिए भी थम जाय तो हमारे प्राण ही निकल जायँ। इसी वजह से वायु को प्राण का पर्याय ही मान लिया गया है। वैज्ञानिकों ने जीवनीशक्ति के रूप में इसे समझा और स्वीकारा है। योगियों ने इस पर गम्भीर अनुसन्धान किए हैं। उनका कहना है कि वायु संचरण या श्वसन प्रक्रिया की लय के भेद-उपभेद के द्वारा प्राणशक्ति को न केवल नियंत्रित किया जा सकता है, बल्कि उसे बढ़ाया भी जा सकता है।

इन पंचमहाभूतों में अन्तिम और सबसे सूक्ष्म तथा सबसे अधिक व्यापक है- आकाश। इसकी अनुभूति बस रिक्त स्थान के रूप में होती है। इसकी महत्ता को आधुनिक विज्ञान बहुत अधिक नहीं समझ सका है। उसकी समझ बस इतनी है कि इस रिक्त स्थान के होने से शरीर की आन्तरिक व बाह्य गतिशीलता सम्भव हो पाती है। दरअसल आकाश का कोई आकार नहीं है, आकाश आकारविहीन है, निराकार है। यह आकाश हमको चारो ओर से घेरे हुए है लेकिन उसकी कोई सीमा नहीं है।

आकाश के सागर में हमारा शरीर बस एक लहर मात्र है। जन्म से पहले वह अप्रकट रूप से आकाश में था और मृत्यु के बाद वह फिर आकाश में विलीन हो जाएगा। अभी भी लहर आकाश से जुड़ी हुई है, वह उससे अलग नहीं है। पतंजलि कहते हैं कि अपने ध्यान को, अपनी एकाग्रता को उस लहर पर केन्द्रित करो, जो सम्बन्ध लहर और सागर का है और तब व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार प्रकट या विलीन हो सकता है।

कुछ वर्षों पहले वृन्दावन में एक प्रसिद्ध सन्त रहा करते थे, जिनका नाम था- स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती। वर्ष १९९० ई. में उनके शरीर का अवसान हुआ। उन्हें अपने साधना जीवन में इस सूत्र के सत्य की अनुभूति हुई। उन दिनों वह गायत्री महापुरश्चरण कर रहे थे। ब्रह्मबेला में उनकी साधना प्रारम्भ हो जाती, जो देर तक चलती। एक दिन प्रात: साधनाकाल में उनके सामने एक सिद्ध पुरुष प्रकट हुए। अचानक इस तरह से प्रकट होने पर उन्हें आश्चर्य हुआ। स्वामी अखण्डानन्द ने उन्हें प्रणाम किया।

उन सिद्ध पुरुष ने भी उन्हें साधना के सम्बन्ध में कुछ रहस्यमय बातें बतायीं। इस सभी के बीच में अखण्डनन्द जी का आश्चर्य यथावत रहा। तब उन्होंने उनके अन्तर्मन के भाव को समझते हुए उन्हें समझाया- ''आश्चर्य मत करो। क्या तुम्हें महर्षि पतंजलि के योगदर्शन के विभूतिपाद के ४२वें सूत्र का स्मरण नहीं है।'' यह कहते हुए '**कायाकाशयोः .....**' सूत्र सम्पूर्ण रूप से उच्चारित किया।

इस सूत्र का उच्चारण करते हुए उन्होंने कहा- ''हमारे शरीर की सीमाबद्धता, स्थानबन्धन इसी कारण है क्योंकि उसकी वर्तमान अवस्था में पृथ्वी तत्त्व प्रधान है। पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण और शरीर में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता उसे बाँधे रखती है। लेकिन यदि यह स्थिति परिवर्तित हो जाय तो यह बाध्यता और बन्धन दोनों ही विलीन हो जाएँगे।''

उनकी इस बात पर स्वामी अखण्डानन्द ने जानना चाहा- ''कैसे सम्भव है यह ?'' उत्तर में उन्होंने कहा- ''शरीर और आकाश के सम्बन्ध पर संयम व समाधि से यह सम्भव है। ऐसी स्थिति में पृथ्वी की प्रधानता के स्थान पर प्रधान हो जाएगा आकाशतत्त्व। शेष अन्य तत्त्व उसी में सूक्ष्मीकृत हो जाएँगे। तब शरीर रहता तो है पर अप्रकट रूप से। इसे प्रकट करने के लिए पुन: स्थिति को यथावत करना पड़ता है। अर्थात् आकाशतत्त्व की प्रधानता के स्थान पर पुन: पृथ्वी तत्त्व को प्रधान करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में सक्षम होने पर आकाशगमन सम्भव होता है और योगी अपनी इच्छानुसार कहीं भी-कभी भी प्रकट या विलीन हो सकता है।''

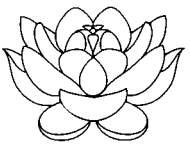

देहबोध से आत्मबोध का मार्ग- विदेह धारणा

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग निरन्तर होते रहें तो प्रकट होती है विभूतियाँ। अपना अस्तित्त्व- अपना व्यक्तित्व प्रमाण देने लगता है, चमत्कारी-चमत्कृत कर देने वाली शक्तियों का। ये शक्तियाँ, ये विभूतियाँ हैं तो अभी भी- परंतु लुप्त और सुप्त हैं। अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग इन्हें अनावृत्त करते हैं, जगाते हैं। इन प्रयोगों से प्रकट होने लगता है व्यक्तित्व का दिव्य व भव्य स्वरूप। नर से नारायण होने की विलक्षण अनुभूति होने लगती है। क्षीण होने लगते हैं वे सभी आवरण, जो हमारे प्रकाश व प्रभा को ढके हुए हैं।

इन्हीं आवरणों के कारण हम अपनी आध्यात्मिक सम्पदाओं से वंचित हैं, अपनी विभूतियों से अनभिज्ञ व अपरिचित हैं। दीन-हीन-मलिन होकर भटकते रहते हैं। वर्तमान की इस भटकन का कोई अर्थ विशेष नहीं है। अर्थ है तो बस योग के इन प्रयोगों का, जो हमसे हमको परिचित कराते हैं। हमारी दीनता को दिव्यता में परिवर्तित करते हैं। हमारे व्यक्तित्व में विभूतियों को प्रकट करते हैं। जैसे महर्षि कहते हैं शरीर व आकाश के सम्बन्ध पर संयम किया जाए तो, या फिर किसी हल्की वस्तु पर संयम किया जाय तो आकाश में चलने की शक्ति आ जाती है। हमारी वर्तमान अवस्था को देखते हुए यह असम्भव सा है। धरती का गुरुत्वाकर्षण हमें धरती से बाँधे हुए है। हम भारविहीन होकर आकाश में पखेरुओं की तरह उड़ नहीं सकते।

यह सब होता है, हममें पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता के कारण। यदि पृथ्वी तत्त्व की जगह हममें आकाश तत्त्व प्रधान हो जाय तो यह क्रम परिवर्तित हो सकता है। बदल सकते हैं हमारे जीवन के घटनाक्रम। शरीर व आकाश के सम्बन्ध पर संयम करने से ऐसा घटित होता है। संयम की यह साधना जैसे-जैसे प्रगाढ़ होती है, वैसे-वैसे होने लगती है हमारे अन्दर आकाश तत्त्व की प्रधानता। तब हममें हो जाती है आकाश में चलने की शक्ति। भार परिवर्तित हो जाता है निर्भार में। रुई जैसी हल्की वस्तु पर संयम करने पर भी यह होता है। संयम साधना से-एकाग्रता के चरमोत्कर्ष में ये सत्य घटित होते हैं। एकाग्रता का चुम्बकत्व अपने समानुरूप तत्त्वों को आकर्षित कर लेता है और तब हमारे भीतर एक नयी विभूति का प्राकट्य होता है।

महर्षि पतंजलि संयम के इन विविध क्रमों को बताने के पश्चात् अपने अगले सूत्र में एक नए सत्य को प्रकट करते हैं-

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ३/४३ ॥

शब्दार्थ= **बहिरकल्पिता**= शरीर के बाहर अकल्पित; **वृत्तिः**= स्थिति का नाम; **महाविदेहा**= महाविदेहा है; **ततः**= उस; **प्रकाशावरणक्षयः**= बुद्धि की ज्ञानशक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है।

भावार्थ= महाविदेहा स्थिति या विदेह धारणा सिद्ध हो जाय तो ज्ञान शक्ति के आवरण क्षीण हो जाते हैं।

शरीर से मन के जटिल बन्धन; चिन्तन, चेतना व चित्त को देहबोध में जकड़े हुए हैं। इस देहबोध से ढका हुआ है ज्ञान। यही आवरण है जिसे क्षीण किए बिना आत्मबोध सम्भव नहीं है। प्रकाश के ज्ञान के इस आवरण को क्षीण करने का उपाय महर्षि इस सूत्र में बताते हैं। उनके अनुसार यह उपाय है 'विदेहावृत्ति'। इसे विदेह धारणा भी कह सकते हैं। यह धारणा पक्की हो तो मन, शरीर के जटिल बन्धनों को शिथिल कर सकता है। अभी मन की उपस्थिति शरीर तक सीमित है फिर यह उपस्थिति बाहर भी हो सकती है। ऐसा होने पर मन मुक्त होता है, देहबोध से। 'मैं देह हूँ' यह भाव धीरे-धीरे क्षीण व शिथिल होने लगता है। ऐसा होने पर आत्मबोध की ओर गति बन पड़ती है।

इस महाविदेहा अवस्था या विदेहावृत्ति के दो रूप हैं- १. कल्पिता, एवं २. अकल्पिता। जब तक मन शरीर के अन्दर ही स्थित रहे, पर उसको भाव या

कल्पना अथवा वृत्तिमात्र से बाहर धारण किया जाय, तब तक यह 'कल्पिता' अवस्था कहलाती है। यह साधना है, इसका अभ्यास लम्बे समय तक करना पड़ता है। अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर बिना कल्पना के भी मन शरीर से बाहर सचमुच में स्थिर हो जाता है, तब इसको अकल्पिता विदेहा वृत्ति कहते हैं। इसको महाविदेहा अवस्था भी कह सकते हैं।

इसको सिद्ध करने पर योगसाधक के लिए परकाया प्रवेश तथा लोक-लोकान्तरों में गमन व भ्रमण सम्भव हो पाता है। इस साधना की निरन्तरता से रजस व तमस का शमन होता है। साथ ही चित्त के प्रकाश को रोकने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक आदि मल नष्ट हो जाते हैं और चित्त में निरावरण होने के कारण मनचाहे विचरण की सामर्थ्य आ जाती है। इन पंक्तियों को पढ़ने पर कैसे सम्भव होगा यह, इस तरह की जिज्ञासा का होना सहज है। इस जिज्ञासा को, इस सूत्र के प्रसंग को एक बार पूज्य गुरुदेव के सम्मुख भी उठाया गया था। उत्तर में उन्होंने एक सरल व प्रभावकारी विधि निर्देशित की।

इस विधि के अनुसार हमें एकान्त में, साधना कक्ष में ध्यान के लिए बैठना चाहिए। बैठने के बाद अन्तर्मुखी हो ध्यान करने की बजाय हम यह ध्यान करें कि हम अपने शरीर में न होकर बाहर उसी तरह बैठे हैं। शरीर यथावत अपने आसन पर है, जबकि हम स्वयं कुछ ही दूर पर पालथी मारे बैठे हुए हैं। प्रारम्भ में यह केवल एक विचार भर रहेगा। बाद में हमें हमारी ही अस्पष्ट-धुँधली झलक मिलने लगेगी। धीरे-धीरे अभ्यास की प्रगाढ़ता के साथ यह स्पष्ट और साफ होती जाएगी। हमें स्वयं को बड़ा आश्चर्य होगा कि हमारा शरीर अभी भी वैसे ही आसन पर बैठा है, जबकि हम स्वयं उसी तरह बाहर बैठे हैं। जब यह स्थिति देर तक बनने लगे तो फिर अपनी इच्छाशक्ति से खड़े हो सकते हैं, चल सकते हैं। अपने कक्ष में टहल भी सकते हैं।

ऐसा करते हुए हमारा शरीर यथावत आसन पर बैठा रहेगा। अभ्यास प्रगाढ़ हो जाने पर यह प्रक्रिया आसान हो जाएगी और हम जब चाहें तब शरीर के आसन पर बैठे अथवा बिस्तर पर लेटे रहने के बावजूद बाहर आ सकते हैं। इच्छानुसार अपने कक्ष में बैठ सकते हैं, चल सकते हैं, टहल सकते हैं।

यह सत्य है कि यह समयसाध्य प्रक्रिया है परन्तु अभ्यास से यह सम्भव है और सहज भी। जब यह सम्भव और सहज हो जाय तो हमें मन को ऊर्जा से

अभिसिञ्चित करना चाहिए। इस मन:शरीर या सूक्ष्म शरीर को ऊर्जा से अभिसिञ्चित करने की कई विधियाँ हैं। कतिपय मंत्र, अन्तरिक्ष की ऊर्जाधाराएँ व ध्यान के कुछ विशेष प्रयोग इसके लिए उपयोग में लाए जाते हैं। ऊर्जा से अभिसिञ्चित होने पर यह मन:शरीर या सूक्ष्म शरीर प्रकाशपूर्ण व चुम्बकीय हो जाएगा। यह जितना प्रकाशपूर्ण, चुम्बकीय व प्राणऊर्जा से परिपूर्ण हो, समझना चाहिए कि यह उतना ही समर्थ हो सका।

इसके समर्थ हो जाने पर इसके द्वारा अनेकों महत्त्वपूर्ण कार्य किए जा सकते हैं, सुदूर स्थानों पर गमन किया जा सकता है एवं अनगिनत लोगों को प्रेरणा व मार्गदर्शन दिया जा सकता है। सामर्थ्य यदि अधिक व अतिशय हो तो लोक-लोकान्तरों में गमन भी करना सम्भव है। जो ऐसा करे अथवा करना चाहे, उनके लिए आवश्यक है कि वे अपने स्थूल शरीर को सुरक्षित या कीलित कर दें, ताकि इसे कोई भी क्षति न पहुँचा सके। इसकी भी कई विधियाँ हैं, जिनसे यह सम्भव है। ऐसा करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि आसुरी शक्तियाँ हमेशा योगसाधकों के शरीर को, स्थूल देह को नष्ट करने के लिए उतावली रहती हैं।

मन:शरीर द्वारा किए जाने वाले ये सभी कार्य बच्चों के खिलौने या उनकी बालक्रीड़ाओं जैसे हैं। यथार्थ है- मन:शरीर का देह व जगत की आसक्तियों से मुक्त होना, वृत्तियों का शान्त होना, संस्कारों व कर्मराशि का क्षीण होना। उच्चस्तरीय धारणाओं से यह सम्भव हो पाता है और तब क्षीण होते जाते हैं प्रकाश के आवरण। ज्ञान, बोध इस क्रम में परिपक्व होते जाते हैं। स्थिति का यह बदलाव उत्तरोत्तर होता जाता है। चेतना- देह, मन, इन्द्रियों, दैहिक सम्बन्धों व सांसारिक विचारों से मुक्त होती जाती है। इस विदेहा वृत्ति के परिपक्व होने पर सचमुच ही विदेह अवस्था की अनुभूति होने लगती है।

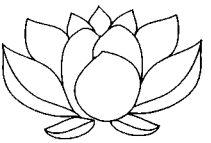

भूतजय की सिद्धि

श्रुति, शास्त्र, सन्त कहते हैं कि प्रकृति का सत्य है- परिवर्तन और जीवन का तत्त्व है- बोध। जब तक अनुभूति न हो, तब तक यह कथन बस कहने-सुनने तक सीमित रहता है। अनुभूति इसे अर्थ देती है और अनुभूति प्रदान करते हैं अन्तर्यात्रा के प्रयोग।

अन्तर्यात्रा के ये प्रयोग जब तक अपने जीवन में अविछिन्न भाव से समाविष्ट नहीं होते, तब तक सत्य की अनुभूति, तत्त्व की अनुभूति नहीं हो पाती। अन्तर्यात्रा विज्ञान को अपनाए बगैर, योग के प्रयोग किए बिना- प्रकृति की परिवर्तनशीलता, दृश्य होते हुए भी हमारे लिए अदृश्य बनी रहती है। जीवन तत्त्वदृष्टि से विहीन- बोधहीन बना रहता है। ऐसा लगता है- जो है, जो हो रहा है वही शाश्वत है, वही सनातन है। जीवन उलझन में उलझता रहता है, भ्रम भटकावे बने रहते हैं। अन्तर्यात्रा पथ पर गतिशील गमन इस भ्रान्ति को, भ्रम व भटकन को दूर करता है।

महाविदेहा स्थिति या विदेह धारणा सिद्ध हो जाए तो ज्ञान शक्ति के आवरण क्षीण होने लगते हैं। सामान्य क्रम का सत्य हमें देहसहित या सदेह होने की अनुभूति कराता है। हमारा ज्ञान, हमारी अनुभूति, हमारा बोध इसी सीमा में क्रियाशील रहता है। इसके बाहर केवल हमारी कल्पनाएँ कार्य करती हैं। ऐसा लगता है कि जीवन का यह अपरिवर्तनीय सत्य है। योग के प्रयोग, अन्तर्यात्रा विज्ञान के सत्य कहते हैं कि इस क्रम में परिवर्तन सम्भव है।

प्रकृति का यह नियम जो अपरिवर्तनीय लगता है उसमें भी परिवर्तन सम्भव है। बस आवश्यकता है तो विदेह धारणा की, महाविदेहा स्थिति की। यह स्थिति सध

जाए, सिद्ध हो जाय तो मन और तन के जटिल बन्धन भी कमजोर पड़ सकते हैं। ये बन्धन भी शिथिल हो सकते हैं। इनके शिथिल होने पर बदलने लगती हैं- मन की अनुभूतियाँ, उतरने लगते हैं- ज्ञान के आवरण। उन्मुक्त-बन्धन मुक्त होने लगती है- ज्ञानशक्ति, बोधशक्ति। तब देहबोध के स्थान पर आत्मबोध प्रबल होने लगता है।

संयम के इस विदेह क्रम के आगे महर्षि पतंजलि भूतजय का सत्य स्पष्ट करते हैं-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ३/४४ ॥

शब्दार्थ= **स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्**= (पंचमहाभूतों की) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व- इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से (योगी को); **भूतजयः** = पंचमहाभूतों पर विजय प्राप्त होती है।

इस सूत्र को समझ लेने पर प्रकृति की परिवर्तनशीलता की फिर से स्पष्ट अनुभूति हो जाती है। इस सूत्र में कहा गया कि भूत शब्द पंचमहाभूतों का द्योतक है। ये पंचमहाभूत क्रमशः हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन पाँचों में से प्रत्येक की पाँच अवस्थाएँ हैं। इनका क्रम निरूपण कुछ इस तरह से होगा-

१. स्थूल अवस्था- यह वह अवस्था है जिसे हम अपनी इन्द्रियों से अनुभव कर सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी को इन्द्रिय गोचर कहा गया है। निश्चित ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश का अपना स्थूल रूप है, जिसे हम अनुभव कर पाते हैं। यह अनुभव हमें क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द के माध्यम से सहजतापूर्वक हो जाता है।

२. स्वरूपावस्था- इन पंचमहाभूतों में से प्रत्येक का अपना-अपना नियत धर्म भी है, जिनसे वे जाने जाते हैं। जैसे पृथ्वी तत्त्व की मूर्ति या आकार, जल का गीलापन, अग्नि की ऊष्णता व प्रकाश, वायु की गति व कम्पन, आकाश का अवकाश-स्थान। ये ही हैं पंचमहाभूतों की स्वरूपावस्थाएँ। इन्हीं अवस्थाओं में, इनमें से प्रत्येक महाभूत की भिन्न-भिन्न सत्ता की अनुभूति हमें हो पाती है।

३. सूक्ष्मावस्था- इन पंचमहाभूतों की जो कारण अवस्था है, जिनको तन्मात्रा या सूक्ष्म पंचमहाभूत कहते हैं, वे इनकी सूक्ष्मावस्थाएँ हैं। जैसे- पृथ्वी की गन्ध तन्मात्रा, जल की रस तन्मात्रा, अग्नि की रूप तन्मात्रा, वायु की स्पर्श तन्मात्रा और आकाश की शब्द तन्मात्रा।

४. अन्वय अवस्था- प्रकृति के तीनों गुण सत्त्व, रजस् व तम्- सभी पंचमहाभूतों में प्रकाश, क्रिया व स्थिति के रूप में व्याप्त हैं। यही इनकी अन्वयी अवस्था है।

५. अर्थवत्त्व अवस्था– इसका अर्थ है इन पंचमहाभूतों का प्रयोजन। इन सभी पंचमहाभूतों का प्रयोजन पुरुष के भोग व अपवर्ग के रूप में है। यही इनकी प्रयोजनता या अर्थवत्त्व है।

इस प्रकार पाँचों महाभूतों के धर्म, लक्षण और अवस्था भेदों से, पच्चीसों रूपों में क्रम से साक्षात्पर्यन्त संयम करने से पाँचों महाभूतों का सम्यक् ज्ञान और उन पर पूरा वशीकरण हो जाता है। इस प्रकार महाभूतों के अपने आधीन होने पर महाभूतों की प्रकृतियाँ व उनके सभी क्रम, योगी के अनुकूल हो जाते हैं। भूतजय की यह सिद्धावस्था जो योगी प्राप्त कर लेते हैं, वे बड़ी सहजता से किसी भी वस्तु के रूप व आकार में परिवर्तन कर सकने की सामर्थ्य रखते हैं। न केवल बाहरी रूप व आकार बल्कि ऐसे योगी उनके गुणों को भी एक से दूसरे में स्थान्तरित कर सकते हैं।

ऐसे ही एक महान योगी थे- महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज के गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द परमहंस। वे वाराणसी में रहते थे। गुड़हल के फूल को, गुलाब के फूल में बदल देना या फिर गुड़हल के फूल में गुलाब की गन्ध पैदा कर देना अथवा गुलाब के फूल में गुड़हल की गन्ध पैदा कर देना, इनके लिए अति सहज कार्य था। पश्चिमी विचारक एवं लेखक पॉल ब्रन्टन ने अपनी पुस्तक 'इन सर्च ऑफ सीक्रेट इण्डिया' में इनसे हुई अपनी मुलाकात और इनके इन चमत्कारी कार्यों का उल्लेख किया है। पॉल ब्रन्टन की इस बहुचर्चित पुस्तक का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है। यह हिन्दी अनुवाद 'गुप्त भारत की खोज' नाम से प्रकाशित हुआ है।

पंचमहाभूतों के गुण परिवर्तन, क्रम परिवर्तन को तंत्रयोग में पंचीकरण विद्या के नाम से जाना जाता है। वाराणसी के सुप्रसिद्ध सन्त, योगी तैलंग स्वामी इस महाविद्या में पारंगत व निष्णात थे। तैलंग स्वामी के दिगम्बर रहने और दीर्घ आयु होने का सत्य सभी आध्यात्मिक जिज्ञासु जानते हैं। कहा जाता है कि महात्मा तैलंग स्वामी ने तीन सौ पचास वर्ष से भी अधिक आयु में स्वेच्छा से अपने शरीर को त्याग दिया।

तैलंग स्वामी जी के विषय में अनेकों दिव्य घटनाक्रम, अनेकों विलक्षण कथाएँ- विभिन्न पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं और निरंतर होती रहती है। उनके द्वारा सिद्ध इस पंचीकरण विद्या के बारे में एक घटनाक्रम कुछ ऐसा है कि उनके पास एक मुस्लिम फकीर का आगमन हुआ। वह अपने शरीर को जल में परिवर्तित कर लेता था। उसने किञ्चित अहंकार के साथ अपनी इस विद्या का उल्लेख किया और इसी के साथ अपने शरीर को एक बड़े बर्तन में जल के रूप में बदल दिया।

महात्मा तैलंग स्वामी ने उस बर्तन से एक लोटा जल निकाल कर अलग रख लिया। बाद में जब वह फकीर अपने वास्तविक रूप में वापस आया तो उसका एक

हाथ कोहनी से गायब था। अपनी इस स्थिति से वह बड़ा दु:खी हुआ। उसे दु:खी देखकर तैलंग स्वामी ने उसे पुन: जल रूप धारण करने को कहा। जब उस फकीर ने अपने शरीर को जल में बदला, तो उन्होंने उस बाहर रखे हुए एक लोटे जल को उस बर्तन में रखे जल में मिला दिया। अब की बार जब वह वापस अपने स्वरूप में लौटा तो सही सलामत था। इस पर तैलंग स्वामी ने कहा- ''अभी तुम्हारी विद्या अधूरी है। मैं तुमको इसका सम्पूर्ण स्वरूप दिखाता हूँ।'' यह कहकर उन्होंने क्रम से स्वयं को एक-एक करके पंचमहाभूतों में बदलना प्रारम्भ किया।

सबसे पहले उन्होंने पृथ्वी रूप लिया और मिट्टी के ढेर में परिवर्तित हो गए। उनकी आज्ञा से इस मिट्टी के ढेर को इधर-उधर बिखेर दिया गया। थोड़ी ही देर के बाद वे अलग स्थान से, पृथ्वी के अन्दर से सशरीर प्रकट हो गए। अगले क्रम में उन्होंने जल रूप धारण किया। उन्हीं की आज्ञा से इस सम्पूर्ण जलराशि को समीप व दूर के कई स्थलों पर नष्ट कर दिया गया। लेकिन वह थोड़े से समय बाद प्रवाहमान गंगा से प्रकट हो गए। उन्हें देखकर ऐसा लग रहा था जैसे वे गंगा में स्नान करके वापस लौटे हों। अगले क्रम में उन्होंने अग्नि का रूप लिया और देखते ही देखते वे अग्नि की ज्वालाओं में परिवर्तित हो गए।

कुछ देर बाद वह अग्नि वहाँ से लुप्त हो गयी। लेकिन वह प्रकट हुए एक दीपक की ज्योति से। थोड़ी दूर पर जल रहा एक दीपक अचानक ज्वाला रूप में बदला और उसमें से तैलंग स्वामी प्रकट हो गए। इसके बाद उन्होंने स्वयं को वायु रूप में परिवर्तित किया। ऐसा करने पर वे स्वयं तो अदृश्य हो गए, बस वहाँ उनकी उपस्थिति का परिचय देने वाली सुगन्धित वायु बहने लगी। देर तक यह स्थिति बनी रही। बाद में वे शरीर रूप में प्रकट हो गए। इस क्रम के बाद उन्होंने स्वयं को आकाश में बदल दिया। फकीर की आँखों के सामने वे बैठे-बैठे ही अदृश्य हो गए।

उनके अदृश्य होते ही सब ओर शून्यता व्याप्त हो गयी। कुछ देर बाद उन्होंने स्वयं को प्रकट किया। उनके शरीर के इन विभिन्न परिवर्तनों को देखकर उस मुसलमान फकीर ने उनके पाँव पकड़ लिए। तब उन्होंने समझाया कि इस पंचमहाभूतों से बने हुए इस शरीर का वास्तविक प्रयोजन- आत्मबोध या मोक्षज्ञान है। जो इसे प्राप्त कर सका, समझो उसी ने पंचमहाभूतों को समझा और वास्तविक भूतजय को जान सका, इसे जी सका। अन्यथा बाकी सभी विद्याएँ बाजीगरी से कुछ अधिक नहीं। पंचमहाभूतों का अर्थवत्त्व या प्रयोजन तो बस मोक्ष है।

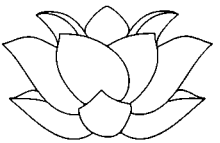

अष्टसिद्धियों की प्राप्ति का योग पथ

जो जीवन में लघु रूप में है, वही प्रकृति में व्यापक रूप में है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि प्रकृति की व्यापकता ही जीवन की लघुता में समायी है। दोनों में परस्पर तात्त्विक एकता है। जिन पंचमहाभूतों से हमारा शरीर बना है, उन्हीं पंचमहाभूतों से प्रकृति का पर्यावरण विनिर्मित है।

पर्यावरण के दोषयुक्त होने से सहज ही हम सभी के शरीर रोगयुक्त हो जाते हैं। यदि पर्यावरण प्रदूषणरहित हो, दोषमुक्त हो तो हम सभी के शरीर सहजता से रोगमुक्त हो सकते हैं। इसी प्रक्रिया में यदि शरीर के पंचमहाभूत सर्वथा परिष्कृत हो सकें, तो ऐसी परिस्थितियों में वहाँ प्रकृति आश्चर्यजनक ढंग से सहयोगिनी हो जाती है। इस प्रक्रिया में भूतजय की एक अवस्था ऐसी भी आती है, जब अपना शरीर, अपना जीवन- सिद्धियों का स्रोत बन जाता है। इस अवस्था में अष्टसिद्धियाँ स्वयं को प्रकट करती हैं और प्रकृति की व्यापकता में सभी पंचमहाभूत, सहयोग की सहभागिता व सहधर्मिता निभाने लगते हैं।

इन सभी पर क्रमिक संयम करने पर भूतजय की अनुभूति होती है और तब इनसे प्रकट होती हैं अष्टसिद्धियाँ व विकसित होती है कायसम्पदा। इसे महर्षि ने अपने अगले सूत्र में प्रकट किया है-

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः
काय सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ३/४५ ॥

शब्दार्थ= **ततः**= उस (भूतजय) से; **अणिमादि प्रादुर्भावः**= अणिमादि आठों सिद्धियों का प्रकट हो जाना; **काय सम्पत्**= कायसम्पत् की प्राप्ति; **च**= और; **तद्धर्मानभिघातः**= उन भूतों के धर्मों में बाधा न होना- (ये तीनों होते हैं।)

भावार्थ= पंचमहाभूतों की सभी पाँचों अवस्थाओं पर संयम करने से होता है भूतजय। इससे प्रकट होती है अणिमादि आठों सिद्धियाँ व कायसम्पत्। साथ-साथ पंचमहाभूतों का स्वभाव, योगी के जीवन में बाधा नहीं बनता है।

महर्षि पतंजलि ने इस महत्त्वपूर्ण सूत्र में भूतजय के परिणाम बताए हैं। यदि योग साधक संयम की प्रक्रिया को पंचमहाभूतों के सभी पाँच आयामों पर केन्द्रित करता है तो उसके व्यक्तित्व व अस्तित्त्व में आश्चर्यकारी परिणाम होने की सम्भावना बनेगी। योग ऋषि पतंजलि कहते हैं कि मुख्य रूप से ये परिणाम तीन प्रकार के होंगे। इनमें से १. यानि कि पहला परिणाम होगा अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का प्रकट होना। २. अर्थात् दूसरा परिणाम होगा कायसम्पत का विकसित होना। और ३. के रूप में तीसरा परिणाम होगा- सभी पंचमहाभूतों की स्वाभाविक प्रकृति से होने वाली सारी बाधाओं का समाप्त हो जाना।

अब आवश्यक है इन सभी तीनों परिणामों का सम्यक् विवेचन। इस क्रम में सबसे पहले चिन्तन और चर्चा- अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के सम्बन्ध में करनी होगी। योगशास्त्र में, प्राचीन पुराणकथाओं में विविध प्रकार से अष्टसिद्धियों की चर्चा की गयी है। इन अष्टसिद्धियों में सबसे पहली सिद्धि है- १. **अणिमा**- अणिमा शब्द अणु से विनिर्मित है। इस सिद्धि को पाने वाला योगी अणु के समान सूक्ष्म आकार धारण करने में समर्थ होता है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड- ३/१५६ एवं २/४७ प्रकरण में रामदूत हनुमान जी द्वारा इस सिद्धि के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। भगवती सीता की खोज में जब हनुमान जी ने लंका में प्रवेश किया तो उन्होंने अति सूक्ष्म रूप धारण किया था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में इस सिद्धि का उल्लेख करते हुए लिखा है- '**मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेहु सुमिरि नरहरि**', अर्थात् कपिश्रेष्ठ हनुमान मच्छर के समान लघुरूप धारण करके भगवान का स्मरण करते हुए लंका की ओर चले।

अष्टसिद्धियों के इस क्रम में दूसरी सिद्धि है-२. **लघिमा**- इस सिद्धि के द्वारा योगी अपने शरीर को हल्का कर लेता है। योगसूत्रकार महर्षि ने इस ग्रन्थ

के तीसरे पाद यानि कि विभूतिपाद के ३९वें एवं ४२वें सूत्र में इसकी चर्चा की है। उन्तालिसवें सूत्र में वे कहते हैं- **'उदान जयाज्जलपङ्ककण्ट-कादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च (३/३९)'** अर्थात् उदान वायु को जीत लेने पर शरीर इतना हल्का हो जाता है कि जल, कण्टक, कीचड़ आदि से उसका संयोग नहीं होता है और ऊर्ध्व गति भी होती है। बयालिसवें सूत्र में वह कहते हैं- **'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्घुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् (३/४२)'** अर्थात् शरीर व आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने पर शरीर इतना हल्का हो जाता है कि योगी में आकाश गमन की शक्ति आ जाती है। ठीक यही स्थिति हल्की वस्तु रुई आदि पर संयम करने से भी होती है।

अष्ट सिद्धियों में तीसरी सिद्धि ३. **महिमा** है। इसके द्वारा शरीर को कितना भी बड़ा किया जाना सम्भव है। वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड-१/१५४ में नागमाता सुरसा के सामने हनुमान जी द्वारा ऐसा करने पर उल्लेख मिलता है। श्रीरामचरित मानस में गोस्वामी जी ने भी इसका उल्लेख करते हुए कहा है- **'जस-जस सुरसा वदन बढ़ावा। तासु दून कपि रूप दिखावा'** अर्थात् जैसे-जैसे सुरसति ने अपने मुख को बड़ा किया, हनुमान जी ने अपने शरीर को उससे दोगुना कर लिया। ४. चौथी सिद्धि है- **गरिमा**। इस सिद्धि से शरीर को कितना भी भारी किया जा सकता है। महाभारत वनपर्व १४६-१४७ वें अध्याय में महाबली भीम का मार्ग अवरुद्ध करने के लिए हनुमान जी ने ऐसा किया था। इसी वजह से भीम सम्पूर्ण बल लगाकर भी उनकी पूँछ को हिला भी नहीं पाए थे। ५. पाँचवीं सिद्धि- **प्राप्ति** है। इसके द्वारा स्वल्पकाल में बिना किसी बाह्य साधन के इच्छित स्थान व इच्छित वस्तु तक पहुँचा जा सकता है।

६. छठी सिद्धि- **प्राकाम्य** है। इसके होने पर बिना किसी रुकावट के भौतिक पदार्थ सम्बन्धी इच्छा की पूर्ति अनायास हो जाती है। ७. सातवीं सिद्धि- **वशित्व** है। इसके द्वारा पाँचों भूत व उससे सम्बन्धित पदार्थ वश में हो जाते हैं। ८. आठवीं सिद्धि- **ईशित्व** है। इसका एक अर्थ स्वामित्व भी है। इसके होने पर सभी पंचमहाभूत और सभी भौतिक पदार्थों के नाना रूपों के उत्पन्न करने व उन पर शासन करने की सामर्थ्य आ जाती है। कहीं-कहीं गरिमा सिद्धि को महिमा में ही समाविष्ट कर दिया गया है। ऐसा होने पर यह आठ की संख्या स्वयं ही सात हो जाती है। तब ८. आठवीं सिद्धि के रूप में- **यत्र कामावसायित्व** का

उल्लेख होता है। इसका अर्थ है योगी का सत्य संकल्प होना। उसका जिस पदार्थ से जो प्रयोजन सिद्ध करने की कामना हो, उसे वह पूरा कर सकता है। इन सिद्धियों को पाने पर भी योगी कभी भी ईश्वरीय विधान या विधि व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता। हाँ, कभी-कभी किसी की जीवन रक्षा के लिए वह विष को अमृत के प्रभाव में परिवर्तित अवश्य कर देता है।

भूतजय के दूसरे परिणाम के रूप में योगी को कायसम्पत की प्राप्ति होती है। इसके प्रभाव से उसके शरीर का रूपान्तरण हो जाता है। कई महान योगियों के जीवन में इसके होने के प्रमाण मिलते हैं। भूतजय का तीसरा परिणाम है- पंचमहाभूतों के धर्मों से बाधा न होना। इसका अर्थ है कि पंचमहाभूतों के धर्म, योगी के काम में बाधा नहीं डाल पाते। वह शिला या पृथ्वी के अन्दर सहजतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। इनकी कठोरता या कड़ापन उसे बाधा नहीं पहुँचा पाते। उस पर यदि पत्थरों की वर्षा हो तो उसके शरीर पर कोई आघात नहीं होता। इसी तरह जल का गीलापन उसे गला नहीं सकता। अग्नि उसे जला नहीं सकती। वह सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि पंचमहाभूतों के धर्मों द्वारा उत्पन्न होने वाली बाधाओं से सर्वथा सुरक्षित रहता है। भूतजय की इस प्रक्रिया से न केवल उसे दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं बल्कि उसका स्थूल शरीर भी रूपान्तरित हो जाता है।

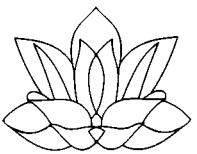

भूतजय होने पर मिलती है वज्र समान काया

परिष्कार की निरन्तरता में रूपान्तरण घटित होता है। चित्त की निर्मलता देह में छलकने व झलकने लगती है। जरा की जर्जरता व व्याधि की दुर्बलता देह का त्याग कर देती है। पंच महाभूतों से बनी इस देह में ये पंचतत्त्व अपना परिष्कृत स्वरूप प्रकट करते हैं। जो कभी देखा नहीं गया, जो कभी सुना नहीं गया, ऐसा रूप, लावण्य, कान्ति व दृढ़ता- देह का स्वभाव बनने लगती है। योगी आरोग्य का स्रोत व स्वरूप हो जाता है। उसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश का सहज सौन्दर्य प्रकट हो जाता है। सामान्य जीवनक्रम में देह कभी सहायक बनती है तो कभी बाधक। जब काया स्वस्थ होती है तो उसके बराबर न कोई सहयोगी होता है और न मित्र। स्वस्थ काया सहजता से सभी सुखों का स्रोत व साधन बन जाती है। इसके विपरीत रोगी काया जीवन में दुःखों की सृष्टि करती है, बाधा व विपदा की परिभाषा बन जाती है।

योग की परिष्कार प्रक्रिया इस प्रचलन को परिवर्तित करती है। सर्वांग व्यक्तित्व जीवन के सौन्दर्य को प्रकट करती है। मन, प्राण व देह आत्मा के प्रकाश, पवित्रता व इसकी पावन ऊर्जा को ग्रहण, धारण व इसको अभिव्यक्ति करने लगते हैं। आत्मा व देह का यह मिलन- अपना जीवन, शिव व पार्वती, पुरुष व प्रकृति का पावन मिलन बन जाता है। आत्मा से लिपटी यह देह कुछ ऐसी विभूति, वैभव व सौन्दर्यसम्पन्न हो जाती है जैसे कि शिव से स्वयं पार्वती

आलिंगनबद्ध हों। आध्यात्मिक मिलन का यह अलंकरण अपने स्वयं के जीवन में सार्थक, यथार्थ व चरितार्थ होने लगता है। हाँ, इसका पथ व प्रक्रिया बस परिष्कार है। परिष्कार से ही योग को, अन्तर्यात्रा विज्ञान को परिभाषित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसकी कोई अन्य परिभाषा या व्याख्या नहीं है।

पवित्रता जितनी बढ़ेगी, परिष्कार जितना उच्चस्तरीय होगा, विभूतियाँ उतनी ही सहजता से प्रकट होगीं। अणिमा आदि सिद्धियों की भांति कायसम्पत भी योग की अनूठी विभूति है।

इस विशिष्ट योग विभूति को स्पष्ट करने के लिए महर्षि पतंजलि अपना अगला सूत्र कहते हैं-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ३/४६॥

शब्दार्थ= रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि= रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान संगठन- ये; **कायसम्पत्**= शरीर की सम्पदाएँ हैं।

भावार्थ= भूतजय होने पर रूप, समस्त अंगों में कान्ति, बल एवं वज्र की दृढ़ता के रूप में कायसम्पत की प्राप्ति होती है।

महर्षि पतंजलि का यह सूत्र विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। परिष्कार, पवित्रता व पावनता के लिए निरन्तर किए जाने वाले प्रयास न केवल आन्तरिक, बल्कि अपने बाह्य परिणाम भी प्रकट करते हैं। योगी की प्रकृति परिवर्तित व रूपान्तरित हो जाती है। इस रूपान्तरण का ही दृश्य रूप कायसम्पत है। इस सत्य को स्पष्ट करने वाली एक अनूठी व मीठी कथा है। इस कथा का सम्बन्ध है महायोगी गोरखनाथ से। यह कथा तब की है, जब गोरखनाथ का साधना काल था। वे निरन्तर व अविराम कठिन साधना कर रहे थे। उनकी साधना की तीव्रता व प्रखरता निरन्तर बढ़ रही थी। उनकी साधना के समक्ष बड़े-बड़े तपस्वी व महायोगी सिर झुका लेते थे।

उसी समय उनके महान गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ने उन्हें आदेश दिया कि तुम अब हिमालय के दुर्गम क्षेत्र में पहुँचकर अपनी साधना सम्पन्न व सम्पूर्ण करो। गुरु का आदेश शिष्य के लिए सर्वोच्च व सर्वोपरि होता है। गोरखनाथ भी अपने गुरुदेव के आदेश को स्वीकार करके हिमालय के दुर्गम क्षेत्र में पहुँच गए। यह ऐसा क्षेत्र था जहाँ चारों ओर हिम ही हिम था। वृक्ष-वनस्पति तो दूर, वहाँ कोई घास का तिनका भी न था। पशु-पक्षियों से रहित था यह स्थान। सब ओर

बर्फीली चोटियाँ थीं। यहाँ ठण्ड की सघनता थी, किसी भी रूप में ऊष्णता का कोई नाम या निशान न था। यहाँ पहुँच कर योगी गोरखनाथ ने अपना आसन जमाया। फिर बैठकर अपने मन को स्थिर करके ध्यानस्थ होने का प्रयास करने लगे। अपने इस प्रयास में उन्हें हर बार असफलता मिली।

गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का आदेश चाहकर भी वे पालन नहीं कर पा रहे थे। मुश्किल भारी थी। उन्होंने कई बार कई तरह से प्रयास किया, परन्तु हर बार वही असफल होने का परिणाम। आखिरकार उन्होंने हार-थक कर अपने अन्तर्यामी को पुकारा। उनकी यह पुकार शीघ्र ही उत्तर लेकर प्रकट हुई। उनकी अन्तर्चेतना में एक ध्वनि सी गूँज गयी- भूतजय। अर्थात् पंचमहाभूतों से विनिर्मित इस शरीर के पंच महाभूतों पर विजय पानी होगी। उन्हें स्थूलावस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्वयअवस्था एवं अर्थवत्त्व अवस्था पर संयम करके अपने योग को सिद्ध करना होगा। इस अन्तःप्रेरणा के साथ ही योगी गोरखनाथ ने संकल्पपूर्वक अपने मन को एकाग्र किया।

उनकी इस एकाग्रता में धारण, ध्यान व समाधि एकत्र हो गए, और फिर उनका संयम सध गया। बस फिर क्या था, उन्होंने भूतजय की इस योगयात्रा का पहला चरण पूरा किया और इसके साथ ही आने लगे इसके परिणाम। हिमाच्छादित हिमशिखरों से आ रही शीतलता का उन पर प्रभाव घटने लगा। साथ ही बढ़ने लगी उनकी स्थिरता। बस वे अपनी इस यात्रा में आगे बढ़ते गए। वे अपने संयम के बल पर स्थूलावस्था, स्वरूपावस्था, सूक्ष्मावस्था, अन्वय-अवस्था के सोपान सिद्ध करते हुए, इसके अन्तिम सोपान अर्थवत्त्व अवस्था को भी सिद्ध करके योग के शिखर पर आरूढ़ हो गए।

योग की इस उच्च अवस्था को जिस क्षण उन्होंने प्राप्त किया, उस समय रात्रि बेला थी। चन्द्रदेव अपनी पूर्णता को प्राप्त सर्वत्र चांदनी बिखेर रहे थे। तभी अचानक वहाँ पर एक विलक्षण व विचित्र वेषधारी अवधूत प्रकट हुआ। उसके हाथों में एक तीक्ष्ण तलवार थी। यह तलवार उस चांदनी रात में चन्द्रमा की ही भांति चमक रही थी। उस अद्‌भुत अवधूत ने वहाँ आते ही योगी गोरखनाथ के शरीर पर पूरी ताकत से प्रहार किया। इस प्रहार से सामान्य क्रम में उनके शरीर को दो टुकड़े हो जाना चाहिए था। परन्तु आश्चर्य उनका शरीर तो वज्र का हो गया था। उनकी देह से टकराकर वह तलवार अवधूत के हाथ से छूटकर दूर जा

गिरी। गोरखनाथ अभी भी आश्चर्य में थे जबकि वह अवधूत उनसे कुछ ही दूर पर खड़ा ठहाका लगा रहा था।

अब गोरखनाथ ने उसकी ओर ध्यान से देखा और उसे पहचानते हुए दण्डवत प्रणाम किया। दरअसल वह अवधूत कोई और नहीं स्वयं मत्स्येन्द्रनाथ थे, जो उनकी भूतजय साधना की परीक्षा लेने व परिणाम देने आए थे। इस साधना के परिणामस्वरूप गोरखनाथ का शरीर सौन्दर्यपूर्ण, चन्द्रमा की भांति कान्तियुक्त, प्रचण्डबल से परिपूर्ण व वज्र की भांति दृढ़ हो गया था। गोरखनाथ के प्रणाम करने के बाद मत्स्येन्द्रनाथ अपने वास्तविक स्वरूप में आ गए और कहने लगे- ''वत्स गोरख! अब तुमने भूतजय करके कायसम्पत प्राप्त कर ली है। साथ ही समाधि की प्रगाढ़ता में अपने स्वरूप को जान लिया है। अब तुम्हें और साधना की आवश्यकता नहीं है। अब वापस संसार में लौटकर लोकल्याण की साधना करो। जो सत्य तुमने समाधि में अनुभव किया है, उसी को लोकजीवन में अनुभव करो।''

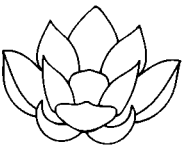

समस्त इंद्रियों पर विजय

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग योग साधक को परिष्कृत एवं निर्भ्रान्त करते हैं। परिष्कार और निर्भ्रान्ति का परस्पर प्रगाढ़ सम्बन्ध है। परिष्कार जितना अधिक होगा, चेतना उतनी ही भ्रान्तिमुक्त होगी। जहाँ परिष्कार की कमी हैं, वहाँ भ्रान्तियाँ उतनी ही सघन होती हैं। विकृत धारणाएँ, चिन्तन में भटकाव, दृष्टिकोण में अस्पष्टता, अनिर्णय की स्थिति अथवा दिशाहीनता वस्तुतः चित्त के कलुष के ही परिणाम हैं। चित्त का कलुष मिटाना, चेतना की कालिमा धोना ही तो अन्तर्यात्रा विज्ञान का मकसद है। इसीलिए तो योग को चित्तशुद्धि या चित्तवृत्तिनिरोध से परिभाषित किया जाता है। योग साधना का समूचा दर्शन व विज्ञान दरअसल चेतना के परिष्कार का दर्शन व विज्ञान है। व्यक्तित्व के जिस भी आयाम में परिष्कृति आती है, वहीं पर शक्तियाँ, विभूतियाँ दिखने लगती हैं। अलौकिकता का आध्यात्मिक प्रकाश छिटकने लगता है। योगी की देह भी अपने आप में उसकी योग साधना की विभूति बन जाती है।

इस विभूति का उल्लेख करने के बाद महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र में इन्द्रियजय के सत्य को सुस्पष्ट करते हैं-

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ३/४७ ॥

शब्दार्थ= ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्= ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व- इन पाँचों अवस्थाओं में

संयम करने से; इन्द्रियजय:= मन सहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

भावार्थ= ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थतत्त्व- इन्द्रियों की इन पाँच अवस्थाओं में संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है ।

योग साधक का वास्तविक परिचय, इन्द्रिय विजय से प्राप्त होता है। वाणी का कौशल, विद्वता, वेष विन्यास इन सब से तो केवल प्रदर्शन आडम्बर सम्भव है। साधना की सच्चाई, आध्यात्मिकता का मर्म केवल इन्द्रियजय से प्रकट होता है। इसके लिए जरूरी है- परिष्कार की प्रगाढ़ता व प्रखरता। इससे पहले के ४४वें सूत्र में भूतजय का प्रकरण आया था। इसमें कहा गया था कि पंचमहाभूतों की पाँचों अवस्थाओं- १. स्थूलावस्था, २. स्वरूपावस्था, ३. सूक्ष्मावस्था, ४. अन्वय अवस्था एवं ५.अर्थवत्त्व अवस्था पर यदि संयम सधे तो भूतजय की उपलब्धि प्राप्ति होती है। इसके बाद के ४५ वें एवं ४६ वें सूत्रों में इसके परिणाम की चर्चा हुई। अब इस सूत्र में इसके अगले आयाम, इन्द्रियजय के सत्य को स्पष्ट किया गया है। पंचमहाभूतों से बनी देह से इन्द्रियाँ कहीं अधिक सूक्ष्म हैं। इसके लिए अपेक्षाकृत अधिक एकाग्रता व कहीं ज्यादा समझ की जरूरत है ।

मन सहित इन्द्रियों की पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमें क्रम से संयम करने से योग साधक का इन्द्रियों पर पूर्ण स्वामित्व स्थापित हो जाता है। उनकी अवस्थाओं के पाँच भेद अथवा पाँच आयाम कुछ इस प्रकार हैं-

१. ग्रहण- इन्द्रियों की सक्रियता, क्रियाशीलता अथवा व्यवहार 'ग्रहण' शब्द में स्थित व समाविष्ट है। रूप आदि अथवा पृथ्वी आदि अपने सामान्य विशेष धर्मों से युक्त पदार्थों में इन्द्रियों का व्यापार या व्यवहार 'ग्रहण' है। ग्राह्य के बिना ग्रहण को सुस्पष्ट करना सम्भव नहीं। अत: ग्राह्य विषय में इन्द्रियों की वृत्ति को ग्रहण कहते हैं। यह सामान्य या साधारण न होकर विशेषतायुक्त रहता है अर्थात विषय को गहराई से या पूर्णरूप से जानना अथवा अनुभव करना। शास्त्रों में इसे विषय का 'आलोचन' कहा जाता है। यदि ग्राह्य विषय का इस प्रकार ग्रहण न हो, तो अनन्तर काल में मन से उसकी छान-बीन नहीं हो सकती। उसे गहरे से नहीं परखा जा सकता। इसलिए इन्द्रिय से इस रूप पर संयम करना आवश्यक व अपरिहार्य है ।

२. स्वरूप- इसका सम्बन्ध इन्द्रियों की संरचना से है। सृष्टि क्रम में प्रत्येक इन्द्रिय की संरचना का कार्य भिन्न है। मन और इन्द्रियों का स्वाभाविक स्वरूप, जो कि अपने-अपने स्थान में विद्यमान रहता है और लक्षणों से उसकी पहचान होती है। यही इन्द्रियों की स्वरूपावस्था है।

३. अस्मिता- यह मन सहित इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप है। इसी से मन सहित इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। शास्त्र कहते हैं कि मन सहित सभी इन्द्रियाँ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियाँ इसका परिणाम होने से, यह इन्द्रियों का कारण है। इन्द्रियों की इसी सूक्ष्मावस्था को यहाँ 'अस्मिता' कहा गया है।

४. अन्वय- अस्मिता प्रकृति के तीन गुणों का परिणाम है। इत: तीनों गुण उसमें स्वभावत: व्याप्त हैं। मन सहित समस्त इन्द्रियों में जो तीनों गुणों का स्वभाव अर्थात् प्रकाश, क्रिया व स्थिति व्याप्त है, वही इनकी अन्वय अवस्था है।

५. अर्थवत्त्व- अर्थ अर्थात प्रयोजन वाला होना। इन्द्रियों का प्रयोजन है, पुरुष के भोग व अपवर्ग को सम्पन्न करना। मन सहित समस्त इन्द्रियाँ इसी प्रयोजन के लिए हैं। यही इनका अर्थवत्त्व है। इसी में इनकी सार्थकता है।

इस प्रकार जब मन सहित दसों इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं में योगी, क्रम से संयम करके भली-भांति उनको प्रत्यक्ष कर लेता है तब वह उन पर विजय प्राप्त कर लेता है। इन्द्रियाँ और मन, सभी की उत्पत्ति अहंकार से हुई है। मन व इन्द्रियों के मेल से ही विषय ग्रहण किए जाते हैं। हाँ! सूक्ष्म विषयों को अकेले मन भी ग्रहण कर सकता है। इस तरह अहंकार से रचना अथवा परिणाम क्रम में दो धाराएँ चलती रहती हैं- एक ग्रहण और दूसरी ग्राह्य।

पहले में इन्द्रियाँ हैं- दस बाह्य और अन्तर इन्द्रिय के रूप में मन। दूसरे में तन्मात्राएँ तथा उनके परिणाम द्वारा सूक्ष्म एवं महाभूतों का उत्पाद। ये सब मूल में त्रिगुण के परिणाम होने से पुरुष के भोगापवर्ग की सिद्धि में समानता रखते हैं। जब योग साधक इन्द्रियों के इन सभी पाँच रूपों पर संयम करता है तो उसमें इनके सत्य व तत्त्व का साक्षात्कार होता है। वह समझ पाता है, जान पाता है और अनुभव कर पाता है इन्द्रियों के वास्तविक उद्देश्य को। अपने इस साक्षात्कार द्वारा वह इन्द्रियों की वास्तविकता की अनुभूति प्राप्त कर न तो भ्रान्त होता है और न ही अभिभूत।

ऐसा होने पर इन्द्रियाँ उसे भुलावे, भटकावे, मोह अथवा भ्रम में नहीं डाल पातीं। अपनी संयम साधना के क्रम में वह सभी इन्द्रियों के प्रत्येक आयाम को परिष्कृत कर लेता है। इस परिष्कार की प्रक्रिया में उसके सभी मल, मैल, कलुष, कालिमा व कालिख धुल जाती है। और तब वह जान पाता है जीवन का वास्तविक तत्त्व- जो सत्य, शिव व सुन्दर है। इस अवस्था में इन्द्रियाँ भी उसे समाधि सुख देने लगती हैं। इसी अवस्था को सन्तों ने सहज समाधि अथवा जाग्रत् समाधि कहा है। जहाँ प्रत्येक इन्द्रिय, उसे शाश्वत आनन्द की झलक व अनुभूति देने लगती है।

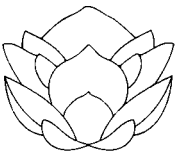

प्रकृति पर अधिकार करता है योगी

एकाग्रता ही योगसाधना की, अन्तर्यात्रा विज्ञान की समस्त प्रक्रियाओं का सार है। योग के प्रयोग अनेक हैं, अन्तर्यात्रा विज्ञान की प्रक्रिया भी अनेको हैं, पर इन सभी का सार व आधार एकाग्रता है। एकाग्रता सधती है, तो असाध्य भी साध्य हो जाता है। एकाग्रता नहीं सध पाती तो साध्य अपने आप ही असाध्य हो जाता है। भटकन में, विचलन में वासना है, एकाग्रता में, स्थिरता में साधना है। इस साधना की राह पर चलने से योग की विभूतियाँ स्वयं ही प्रकट होने लगती हैं। आध्यात्मिक उपलब्धियाँ अपने आप आने लगती हैं।

योगसाधना में इन्द्रियजय का बड़ा महत्त्व है। जो योगसाधना करते हैं, जो अन्तर्यात्रा पथ के पथिक हैं, वे किसी न किसी तरह इसके लिए प्रयास करते हैं। कई बार उनके ये प्रयास उनके लिए जटिल संघर्ष और कई बार तो उनके जी का जंजाल बन जाते हैं। हालांकि यह सब होता है साधना करने वालों की नासमझी के कारण। इन्द्रियजय के लिए किसी संघर्ष की नहीं, बल्कि विवेकपूर्ण एकाग्रता की आवश्यकता है। यह एकाग्रता, मन सहित इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं में की जानी चाहिए। ये पाँचों आयाम- ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय व अर्थवत्त्व हैं। क्रमिक रूप से इन पर किया गया संयम, इन्द्रियजय की विभूति प्रकट करता है।

अब महर्षि पतंजलि इन्द्रियजय के सुपरिणाम को अपने अगले सूत्र में प्रकट करते हैं-

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ३/४८ ॥

शब्दार्थ= **ततः**= उस (इन्द्रियजय) से; **मनोजवित्वम्**= मन के समान गति; **विकरणभावः**= शरीर के बिना भी विषयों को अनुभव करने की शक्ति; **च**= और; **प्रधानजयः**= प्रकृति पर अधिकार- ये तीनों विभूतियाँ मिलती हैं।

भावार्थ= इन्द्रियजय होने पर योगी मन के समान वेग, शरीर के बिना विषयों की अनुभूति क्षमता और प्रकृति पर अधिकार के रूप में तीन योग विभूतियाँ प्राप्त कर लेता है।

सूत्रकार महर्षि द्वारा रचित यह सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इस सूत्र का केन्द्रीय तत्त्व है- इन्द्रियजय। इन्द्रियजय हो सके तो स्वयं ही मिल जाती हैं- १. मनोजवित्वं, २. विकरण भाव एवं ३. प्रधानजय के रूप में योग की तीन विभूतियाँ। इन तीनों का आधार इन्द्रियजय है। इन्द्रियजय होने पर ही इन तीनों की प्राप्ति होती है। युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव, योगऋषि पतंजलि के इस सूत्र के केन्द्रीय तत्त्व इन्द्रियजय को स्पष्ट करने वाली एक कहानी सुनाते थे।

यह कहानी महान दार्शनिक, विचारक एवं योगी वाचस्पति मिश्र की है। वे अपने अध्ययन में बहुत एकाग्र रहा करते थे। एक दिन उनके पिता ने कहा, अब मैं बूढ़ा हो चला और मैं नहीं जानता कि कब मर जाऊँ और तुम मेरे इकलौते बेटे हो, मैं चाहता हूँ कि तुम विवाह कर लो। अध्ययन में डूबे हुए वाचस्पति ने अपने पिता की बात को गौर से सुने बगैर 'ठीक है' बोलकर 'हाँ' कर दी। अध्ययन की इसी एकाग्रता में उनका विवाह हो गया।

विवाह होने के बाद उनकी पत्नी को उनके महान उद्देश्यों का ज्ञान हो गया था। उनकी महानता के कारण वे उनसे प्रेम करने लगीं। अपने प्रेम में डूबी हुई वे उनका हर तरह से सहयोग करतीं। ऐसा करते हुए बारह वर्ष गुजर गए। वे छाया की भाँति उनकी सेवा करतीं, हर बात का ध्यान रखतीं। वे कभी न कहतीं, 'मैं हूँ यहाँ और क्या कर रहे हो तुम ?' वाचस्पति उन दिनों बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिख रहे थे।

ब्रह्मसूत्र पर अब तक कितने ही भाष्य व व्याख्याएँ लिखी जा चुकी हैं परंतु इन सबमें वाचस्पति द्वारा रचित भाष्य का स्थान सर्वोपरि है। उन दिनों वाचस्पति

के हाथों यह महानतम भाष्य लिखा जा रहा था। अपने इस कार्य में वे इतनी समग्रता से एकाग्र थे कि अन्य सब कुछ भूल चुके थे। उन्हें तो इतना भी होश नहीं था कि मेरी पत्नी भी है। कौन थालियाँ लाया, किसने भोजन कराया, कौन आया शाम को और दीया जला गया- इसका भान भी उन्हें न था।

बारह वर्ष ऐसे ही गुजर गए। अब वह रात्रि आयी, जब उनकी व्याख्या पूरी हो गयी थी। उन्हें अन्तिम वाक्य भर लिखना था। उन्होंने प्रण किया था कि जब व्याख्या पूरी होगी, वे संन्यासी हो जाएँगे। तब वे मन से सम्बन्धित न रहेंगे और सब कुछ समाप्त हो जाएगा। यह व्याख्या ही उनका एकमात्र कर्म था, जिसे परिपूर्ण करना था। उस रात थोड़ी विश्रान्ति थी, क्योंकि उन्होंने रात बारह बजे अन्तिम वाक्य लिख दिया था। पहली बार वे अपने वातावरण के लिए सजग हुए। दीया धीमा जल रहा था और अधिक तेल चाहिए था। एक सुन्दर हाथ उसमें तेल उड़ेलने लगा। वाचस्पति ने पीछे देखा- वहाँ एक सुन्दर स्त्री खड़ी थी। उन्होंने चकित होते हुए पूछा- तुम कौन हो देवी ? उस सुन्दर स्त्री ने कहा- अब आपने पूछ ही लिया है तो बताए देती हूँ कि बारह साल पहले आपने मुझे अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण किया था। आप अपने कार्य में इतनी समग्र एकाग्रता के साथ डूबे थे कि मैंने उसमें बाधा डालना ठीक न समझा।

यह सुनकर वाचस्पति मिश्र की आँखें छलक उठीं, वे रोने लगे। पत्नी ने पूछा- क्या बात है ? तो वे बोले- बड़ा धर्मसंकट हो गया है। इन बारह वर्षों ने मुझे बदल डाला है। मेरे जीवन की समूची कामऊर्जा सहस्रार की ओर गतिशील हो गई है। मन में संसार व वासनाएँ नहीं बचीं। मैं कोशिश भी करूँ तो भी संसारी नहीं बन सकता। तुम्हें मुझे पहले ही बता देना चाहिए था। हाँ ! मैं तुम्हारे प्रेम, तुम्हारी सेवा, तुम्हारी निष्ठा के लिए कृतज्ञ हूँ। इस कृतज्ञता के लिए मैं अपने बारह वर्षों का अथक श्रम तुम्हें समर्पित करता हूँ। ऐसा कहते हुए उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य का नाम दिया 'भामती'। यह उनकी पत्नी का नाम था। उनकी इस प्रेमपूर्ण कृतज्ञता पर पत्नी भी रोने लगीं। वे बोलीं- आपकी आँखों में मेरे लिए प्रेम ही मेरे लिए पर्याप्त है। इन बारह वर्षों की सेवा और एकाग्रता ने मुझे भी बदल डाला है। मेरा मन भी संसार से उपराम हो चुका है। एकाग्रता ने जीवन की ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बना दिया है।

इस कहानी को सुनाते हुए युगऋषि परम पूज्य गुरुदेव बताते थे कि सतत् एकाग्रता ने वाचस्पति मिश्र और उनकी पत्नी भामती को स्वाभाविक ही इन्द्रियजय की योग विभूति प्रदान कर दी। इसके बाद योग साधना करते हुए उन दोनों में १. मनोजवित्व का प्रकटीकरण हुआ। वे दोनों स्थूल शरीर और इन्द्रियों के सहित मन की तरह एक क्षण में कहीं से कहीं दूर देश जा सकते थे। इसी के साथ उनमें दूसरी शक्ति के रूप में २. विकरण भाव का प्राकट्य हुआ। वह स्थूल शरीर के बिना ही दूर देश स्थित वस्तुओं को आसानी से प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते थे। इसी के साथ उन्हें तीसरी योग विभूति के रूप में ३. प्रधानजय की प्राप्ति हो गयी। कार्य व कारण रूप से स्थिर प्रकृति के सम्पूर्ण भेदों को वे अधिकारपूर्ण ढंग से अनुभव कर रहे थे। ये विभूतियाँ उनके लिए अनजानी व चकित करने वाली थीं।

एक दिन ध्यान की गहनता में वाचस्पति मिश्र व भामती अपनी इस स्थिति पर विचार कर रहे थे। तभी उन दोनों को एक साथ हिमालय के एक महान् ऋषि का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने उन दोनों को बताया कि एकाग्रता से समस्त योग विभूतियों की प्राप्ति सम्भव है। तुम्हें भी गहन एकाग्रता के फलस्वरूप इन्द्रियजय मिली है, उसी के परिणामस्वरूप ये तीनों योग विभूतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। लेकिन अभी भी आवश्यकता है प्रकृति से उपराम होने की। आखिरकार समस्त विभूतियाँ प्रकृतिजन्य ही तो हैं और प्रकृति से पार जाने पर ही योगी को उसके स्वरूप का सम्यक् बोध और स्थिति प्राप्त होती है। यह सत्य जान कर वाचस्पति व भामती अपनी साधना के अगले चरण की ओर बढ़ गए।

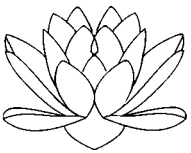

भावों व पदार्थों पर अधिकार की योगसाधना

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग में विवेक ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है और बोध विकसित होता है। साथ ही बदलते हैं अनुभव। दरअसल अनुभवों का बदलना, विवेक और बोध के विकसित होने के अनुसार होता है। बचपन से लेकर अब तक की अनुभव यात्रा में इसे समझा जा सकता है। बचपन की जिदें, हठ कुछ अलग ढंग के हुआ करते थे। छोटी-छोटी चीजों, खिलौने, कपड़े आदि के साथ इतना गहरा तादात्म्य हो जाया करता था कि इनके दूर होते ही अपने प्राण निकलने लगते थे। बड़ी रूलाई आती थी।

बदलती आयु के साथ तादात्म्य का रूख भी बदला। वस्तुओं व व्यक्तियों के सम्बन्ध की घनिष्ठता भी बदली। तादात्म्य अभी भी है, लेकिन कुछ अलग ढंग से और अलग चीजों के साथ। अब सम्बन्धों की घनिष्ठता कुछ अलग व्यक्तियों के साथ जुड़ गयी है। सम्बन्धों व संवेदनाओं की संरचना बदल चुकी है। हालांकि अभी भी इसमें विवेक ज्ञान का अभाव है, विवेक के प्रकाश व बोध के विकास की कमी है।

पिछले सूत्र में महर्षि पतंजलि ने कहा था कि इन्द्रियजय होने से योगी को मन के समान गति, शरीर के बिना भी विषयों को अनुभव करने की शक्ति और प्रधानजय के रूप में प्रकृति पर अधिकार प्राप्त होते हैं। इन तीनों विभूतियों के प्राप्त होने की घटना इसलिए घटती है, क्योंकि चेतना अधिक पारदर्शी व प्रकाशित हो चुकी है।

ऐसा होने के साथ चित्त के अधिकांश विकारों, विकृतियों का शमन हो चुका होता है। ऐसी स्थिति में केवल इन विभूतियों की ही प्राप्ति नहीं होती, बल्कि सम्बन्धों व संवेदनाओं की संरचना भी बदलती है। तादात्म्य की घनिष्ठता के आयाम भी बदलते हैं। 'मैं' की अनुभूति में भी विकास होता है। इस स्थिति में 'मैं' देह तक चिपटा व सिमटा नहीं रहता। 'मैं' को चेतना के उच्चतर आयामों का संस्पर्श मिलना आरम्भ हो जाता है।

इस सत्य की अभिव्यक्ति महर्षि ने अपने अगले सूत्र में की है- **सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ३/४९॥**

शब्दार्थ= सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य= बुद्धि और पुरुष इन दोनों की भिन्नता मात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि को प्राप्त योगी का; सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्= सब भावों पर स्वामिभाव; च= और; सर्वज्ञातृत्वं= सर्वज्ञभाव हो जाता है।

भावार्थ= बुद्धि और पुरुष के भेद का साक्षात्कार करने वाले योगी को सब भावों-पदार्थों पर अधिकार और सबका ज्ञान हो जाता है।

इस सूत्र में 'सत्त्व' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया गया है। अर्थ की इस व्यापकता में 'सत्त्व' का अर्थ सामान्य बुद्धि न होकर अन्तःकरण या चित्त है। यह चित्त ही मानव जीवन सहित सभी जीवों के जीवन का आधार है। चित्त के स्वरूप व स्थिति के अनुसार, जीव को उसके अपने जीवन का स्वरूप व स्थिति मिलती है। इसमें निहित शुभ या अशुभ कर्म व संस्कारों के अनुसार उसके जीवन के घटनाक्रम घटित व संचालित होते हैं। प्रत्येक जीव अपने जीवन व उसके घटनाक्रमों से चिपका हुआ है। इस गहरी आसक्ति या गहरे तादात्म्य के कारण ही उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता। अन्य जीवों की तो बात क्या कहें, सबसे अधिक ज्ञानवान व समझदार कहे जाने वाले मनुष्य की स्थिति कुछ अधिक भिन्न नहीं है। हाँ! उसमें अपने स्वरूपबोध की सम्भावनाएँ बहुत हैं। इन्हें वह अपने तप के द्वारा सक्रिय व साकार कर सकता है।

इस बारे में तैत्तिरीयोपनिषद की भृगुवल्ली में एक अत्यन्त बोधप्रद कथा है। यह कथा ऋषि वरूण और उनके पुत्र ऋषि भृगु की है। इस कथा में भृगु ने अपने पिता वरूण से ब्रह्मतत्त्व के उपदेश की प्रार्थना की। वरूण ने उन्हें ब्रह्मतत्त्व का

उपदेश देते हुए कहा- **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्जिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।** ये सब प्रत्यक्ष दीखने वाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं- उसको तत्त्व से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है।

भृगु ने अपने पिता की बात सुनी और उस पर मनन किया। अन्यों की भाँति उनका भी जीवन और उसके घटनाक्रमों से तादात्म्य था। ज्ञान के लिए **सः तपोऽतप्यत् स तपस्तप्त्वा।** उन्होंने तप किया, उन्होंने तप करके जाना। **अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्,** अन्न ब्रह्म है इस प्रकार जाना। अन्न है तो शरीर है और शरीर है तो हमारा अस्तित्त्व है। अपने इस निष्कर्ष को उन्होंने जब अपने पिता को बताया तो ऋषि वरूण ने कहा- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व।** तप से ब्रह्म को जानो।

पिता वरूण से इस उपदेश को सुनकर भृगु ने पुनः तप आरम्भ किया। इस बार तप के द्वारा चेतना कुछ अधिक निर्मल हुई। कुछ परतें और टूटीं और उन्होंने जाना- **प्राणो ब्रह्मेति।** प्राण ब्रह्म है। इस बार के निष्कर्ष को जब उन्होंने अपने पिता वरूण को बताया तो उन्होंने पुनः कहा- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व।** तप से ब्रह्म को जानो। पिता के इस कथन को सुनकर भृगु को लगा अभी उसके तप में कुछ कमी रह गयी है, सो उन्होंने पुनः तप आरम्भ किया। तप की प्रक्रिया से चेतना कुछ अधिक निर्मल हुई तो भृगु ने अनुभव किया- **मनोब्रह्मेति।** मन ब्रह्म है। अपने इस निष्कर्ष को उसने पिता से कहा। पिता मुस्कराए और बोले- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व।** तप से ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की इच्छा कर।

भृगु ने अनुभव किया कि अभी उनका तप भी न्यून है, साथ में बोध भी। ऐसा सोच कर उन्होंने पुनः तप आरम्भ किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे **विज्ञानम् ब्रह्मेति।** विज्ञान ब्रह्म है। मन से पार, चिन्तन व चेतना का आधार चित्त-विज्ञान ब्रह्म है। उन्होंने अपना यह निष्कर्ष पिता का सुनाया। उन्होंने पुनः वही उपदेश दिया- **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासत्व**- ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की इच्छा कर। पिता के इस उपदेश को मान कर भृगु ने पुनः तप आरम्भ किया और उन्होंने तादात्म्य के सभी तलों को तोड़ते हुए स्वयं को देह, प्राण, मन व चित्त अथवा विज्ञान से भिन्न अनुभव करते हुए पाया- **आनन्दो ब्रह्मेति।** आनन्द ही

ब्रह्म है। अपनी आत्मा के आनन्द का धाम ब्रह्म है। पिता वरूण ने अपने पुत्र भृगु के इस निष्कर्ष को जब सुना तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक कहा- **सैषा भार्गवी वारूणी विद्या परमे व्योमन प्रतिष्ठिता।** यह भृगु की जानी हुई और वरूण के द्वारा उपदेश की हुई विद्या है जो विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा में प्रतिष्ठित है।

योगऋषि पतंजलि इसी अनुभूति को कहते हैं, जब योगी अनुभव कर लेता है कि वह द्रष्टा रूप में, पुरुष रूप में- सत्त्व से, अन्त:करण से भिन्न है और स्वयं की चित्त से भिन्नता को जब वह स्पष्टया अनुभव कर लेता है, तब उसे सब भावों पर स्वामित्व प्राप्त हो जाता है। अभी तक आसक्तियों ने, देह, प्राण, मन, चित्त के साथ तादात्म्य की कड़ियों ने उसे सीमित कर रखा था। वह भावों के इशारों पर नाचता था। घटनाक्रम उसे बांधते थे। पर अब स्थितियाँ बदल जाती हैं। अब वह जान लेता है कि भाव, स्थिति व सभी घटनाओं की चाभी उसके स्वयं के पास है। वह स्वामी है, दास नहीं। अब तक जो भी दासता थी, उसका कारण था- तादात्म्य, आसक्ति। इससे छूटते ही, इसके टूटते ही स्थिति बदल जाती है, अब वह होता है स्वामी। साथ ही स्वयं में स्थित होते ही, अपने स्वरूप में अवस्थित होते ही उसका बोध, अबाधित हो जाता है। तीनों कालों में घटित होने वाले सभी घटनाक्रम उसके सामने स्पष्ट व प्रत्यक्ष होते हैं। ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता जिसका उसे ज्ञान न हो, जिसका उसे बोध न हो। स्वामित्व और सर्वज्ञता उसका स्वभाव बन जाती है। अपने बोध के शिखर पर आरूढ़ होकर वह स्वयं भी ऋषि भृगु की भांति **आनन्दोब्रह्मेति**, आनन्द ही ब्रह्म है, ऐसा अनुभव करता हुआ आनन्द में मग्न हो जाता है।

वैराग्य का परम शिखर है कैवल्य

गहरे में यदि हम अपने जीवन के घटनाक्रमों का निरीक्षण करें तो पाएँगे कि जगे हुए भी हम कभी नींद में रहते हैं, तो कभी उनींदे। हमारे स्वप्न, हमारी कल्पनाएँ हमें जगने नहीं देते। ये स्वप्न और कल्पनाएँ न भी हों, तो उस दशा में भी हम प्रायः सुप्त रहते हैं अथवा मूर्च्छित।

हमारी चेष्टाओं में, हमारे कार्यों में स्वप्न हमें घेरे रहते हैं, मन की वीथियों में कल्पनाओं की कुहेलिकाए, अठखेलियाँ करती रहती हैं। स्थिति का विश्लेषण करें तो हम पाएँगे कि इसका कारण है- आसक्ति, और फिर इस आसक्ति की जड़ें हमारे अहंकार में हैं। आसक्ति है 'मेरा' और अहंकार है 'मैं'। पहले 'मैं' है, तभी तो 'मेरा' होगा। इनसे छुटकारा पाने में ही जागरण है। आसक्तियाँ- स्वप्नों को, कल्पनाओं को जन्म देती हैं और अहंकार चेतना को मूर्च्छित करता है।

योगऋषि पतंजलि ने बताया है कि बुद्धि एवं पुरुष इन दोनों की भिन्नता मात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि प्राप्त योगी का सब भावों पर स्वामित्व और सर्वज्ञ भाव हो जाता है। आसक्ति में हमारा स्वामित्व एवं ज्ञान दोनों ही खो जाते हैं। जिस वस्तु, व्यक्ति अथवा घटनाक्रम से हम जितने अधिक आसक्त होते हैं, उसके हम उतने ही गुलाम बन जाते हैं। हमारी सोचने-समझने की क्षमता, विचार शक्ति, बोध शक्ति खो जाती है। और तब हम उसके पीछे भागते रहते हैं, भयभीत होते हैं, पीड़ा पाते हैं, प्रताड़ना सहते हैं।

जब यह आसक्ति टूटती है, तो चेत होता है थोड़ी देर के लिए। लेकिन तब तक एक नयी आसक्ति हमें बांध लेती है और अवस्था पूर्ववत् यानि कि जस की तस हो जाती है। आसक्ति के टूटने का क्रम यदि जारी रहे तो होश भी बढ़ता रहता है। और इस क्रम में यदि चित्त और पुरुष के भेद का ज्ञान हो जाए तो जागरण अपने शिखर पर जा पहुँता है। फिर स्वाभाविक रूप से सब भावों पर स्वामित्व व सर्वज्ञ भाव हो जाता है।

इसके अगले सूत्र में महर्षि पतंजलि स्पष्ट करते हैं, यदि इस अवस्था से भी वैराग्य हो जाए तो-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ३/५०॥

शब्दार्थ= तद्वैराग्यात् अपि= उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होने से; दोषबीजक्षये= दोष के बीज का नाश हो जाने पर; कैवल्यम्= कैवल्य की प्राप्ति होती है।

भावार्थ= वैराग्य के परम शिखर पर, समस्त दोषों के बीज क्षीण हो जाते हैं और कैवल्य की प्राप्ति होती है।

महर्षि पतंजलि इस अनूठे सूत्र में वैराग्य की पराकाष्ठा का परिणाम बताते हैं। वैराग्य यदि परम शिखर पर है, वैराग्य यदि चरम पर है तो कैवल्य की प्राप्ति सुनिश्चित है। योगऋषि पतंजलि ने वैराग्य की दो वास्तविकताएँ, दो अवस्थाएँ बतायी हैं। इनमें से एक अवस्था है- आसक्ति विसर्जन तथा दूसरी अवस्था है- अहंकार का विसर्जन।

इन्हें क्रम से समझना होगा। इन पर क्रम से विचार करना होगा। आसक्तियाँ हमें संसार से बांधे रखती हैं। इनके कई रूप हैं, जिनमें से दो मुख्य हैं- १. इन्द्रिय सुखों में आसक्ति, तथा २. सम्बन्धों में आसक्ति। बात विचारणीय है, अनुभवी योगी कहते हैं, यदि हम भीतर, अपने मन में, स्वयं के अन्तःकरण में आनन्दित नहीं हैं तो बाहर सुख पाने की इच्छा होती है। सुखोन्मुख मन का मतलब सिर्फ इतना है कि हम अपने भीतर आनन्दित नहीं हैं, इसीलिए सुख को कहीं और बाहर खोजते फिर रहे हैं।

इच्छा, दुखी मन के लिए सुख खोजने का ढंग है। हालांकि सुख कहीं मिलता नहीं है, बस सुख की झलकियाँ, सुख की भ्रान्तियाँ व सुख की प्रतीतियाँ प्राप्त होती हैं। गहरे में विचार करें तो सुख का मतलब है प्रसन्नता की झलकियाँ।

इसमें भ्रामकता यह है कि सुख खोजने वाला मन सोचता है कि ये झलकियाँ कहीं और से आ रही हैं, जबकि ये भीतर से आती हैं।

कभी हमें लगता है कि सुख स्वाद में मिल रहा है, तो कभी वासना के क्षणों में इसकी अनुभूति हो रही है। लेकिन दरअसल उन क्षणों में हम शान्त और मौन होते हैं। उस क्षण हम ठहर जाते हैं, और हमारी आत्मा प्रवाहित होने लगती है और हमें सुख की झलक मिलने लगती है। संक्षेप में कहें तो मन का शोरगुल जब-जब थमता है, तब-तब हमें सुख की झलक मिलने लग जाती है।

हम भ्रमवश इसे इन्द्रिय विषयों या वासनापूर्ण सम्बन्धों में खोजते रहते हैं और इनके लिए ढेर के ढेर उपद्रव मोल लेते रहते हैं। बैठे-बिठाए अनगिनत सिरदर्द पाल लेते हैं। यदि आसक्ति के प्रत्येक पहलू पर विचार करें तो धीरे-धीरे वैराग्य होने लगेगा। इस वैराग्य के प्रभाव से पहले बाहर के उपद्रव थमेंगे, फिर मन के उपद्रव शान्त होंगे और तब सुख का स्थायी भाव- प्रसन्नता के रूप में प्रकट होने लगेगा। वैराग्य की इस अवस्था के लिए बोधपूर्ण प्रयास की आवश्यकता है।

वैराग्य की इस प्रथम अवस्था में हमें यह अनुभव होता है कि सारी प्रसन्नता स्वयं में घटित हो रही है। कहीं और नहीं, कोई और नहीं, हम ही हैं उसके उद्‌गम। इस सत्य का अनुभव आसक्तियों के विसर्जित होने पर होता है। इस अनुभूति के बाद बढ़ाने होते हैं अपने कदम- वैराग्य के परम शिखर पर पहुँचने के लिए। इसके लिए अपनी अन्तर्चेतना के, अपनी आत्मा के समग्र स्वभाव को जलना पड़ता है।

इसके प्रथम चरण में हमें यह जानना पड़ता है कि हम ही हैं उद्‌गम सारी प्रसन्नता के। दूसरे चरण में हमें यह जानना पड़ता है कि वह उद्‌गम है क्या? पहले इतना जानना भर काफी है कि कोई और नहीं, कहीं और नहीं केवल हम स्वयं ही हैं अपनी प्रसन्नता के उद्‌गम। इसके बाद हमें यह जानना होता है कि वह स्रोत अपनी समग्रता में क्या है? वह पुरुष, आन्तरिक आत्मा क्या है? सार रूप में हमें यह जानना होता है कि समग्र रूप में मैं कौन हूँ?

एक बार जब हम इस उद्‌गम को, इसकी समग्रता में जान लेते हैं, तो समझो सब जान लिया जाता है। तब केवल प्रसन्नता ही नहीं वरन सारा ब्रह्माण्ड भीतर ही होता है। केवल प्रसन्नता ही नहीं, तब वह सब जिसका अस्तित्त्व है, भीतर

वास करता है। तब ईश्वर कहीं बादलों में बैठा नहीं होता, वह स्वयं में विद्यमान होता है। तब हम केवल हम होते हैं, सब के मूल स्रोत।

हम ही केन्द्र हैं और एक बार जब हम अस्तित्त्व के केन्द्र बन जाते हैं, एक बार जब हम जान लेते हैं कि हम अस्तित्त्व के केन्द्र हैं तो सारे दु:ख सारे संघर्ष, सारे झगड़े मिट जाते हैं। इस अवस्था में इच्छाओं का अंकुरण नहीं होता। इच्छाविहीनता स्वभाव बन जाती है। किसी प्रयास, किसी मेहनत, किसी संपोषण की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब वहाँ संघर्ष करने वाला, झगड़ा करने वाला कोई 'मैं' नहीं रहता। अहंकार- विलीन, विसर्जित हो जाता है। अहंकार के इस विसर्जन में, वैराग्य के शिखर पर कैवल्य प्रकट होता है।

अहंकार के अनुभव में भी कई तल हैं। यदि हम संसार में संघर्ष कर रहे होते हैं, तो यह एक प्रकार से स्थूल अहंकार होता है। ऐसे में 'मैं' का अनुभव- मैं धनी हूँ, सम्मानित हूँ, मैं सत्तावान हूँ, इस रूप में होता है। अगर हम भीतर संघर्ष कर रहे होते हैं, तो एक प्रकार से सूक्ष्म अहंकार निर्मित होता है। ऐसे में इस 'मैं' का अनुभव- मैं शुद्ध हूँ, मैं सन्त हूँ, मैं मनीषी हूँ, इस रूप में होता है।

अहंकार के पूर्ण विसर्जन में हम अस्तित्त्व को समग्रता में स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में संघर्ष के स्थान पर अस्तित्त्व की समग्र स्वीकारोक्ति, स्वीकृति होती है। अपने आप को और अपने अस्तित्त्व को, जैसा है वैसा स्वीकार कर लिया है। ऐसे में 'मैं' नहीं रह जाता। बस बोध, आनन्द बन कर प्रवाहित होता है। अस्तित्त्व बिना किसी अवरोध के प्रवाहित होता है। यही तो कैवल्य है।

इस तरह वैराग्य की पहली अवस्था में आसक्तियाँ मिटती हैं। इन्हीं के साथ मिट जाती है इच्छाएँ और तब प्रसन्नता अपना स्वभाव बन जाती है। इसके बाद वैराग्य की दूसरी अवस्था में हम स्वयं ही मिट जाते हैं। नहीं रह जाता है वहाँ- 'मैं' का कोई नामोनिशान। साथ ही विदा हो जाते हैं- सभी प्रकार के संघर्ष, सभी तरह के झगड़े। अहंकार के इस विसर्जन के साथ कैवल्य प्रकट होता है। आन्तरिक अस्तित्त्व अपने प्रवाह में बहता रहता है। यहाँ परम आनन्द, परम बोध उपस्थित होते हैं। यही अवस्था कैवल्य है।

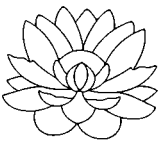

देव निमन्त्रण से भ्रमित नहीं होता है योग साधक

अन्तर्यात्रा विज्ञान से अनुभूतियों के नए द्वार खुलते हैं। सामान्य क्रम में जिसे असम्भव व आश्चर्यपूर्ण कहा जाता है, वह सब कुछ यहाँ सम्भव व सहज होता है। इस आलोक में कितने ही लोक दिखाई देने लगते हैं। इनका वैभव, यहाँ की विभूतियाँ अन्तर्यात्रा के पथिक के पथ पर स्वयं ही चल कर आ जाती हैं। साथ ही होती है- पल-पल, पग-पग पर परीक्षा। इस पथ पर परीक्षा सदा प्रतीक्षा करती है। विवेक, वैराग्य, धैर्य, साहस, भक्ति, शरणागति को हर समय जाँचा-परखा जाता है। तनिक सी खोट होने पर करारी चोट मिलना सुनिश्चित हो जाता है। थोड़ी सी कमी, तनिक सी त्रुटि, आगे के सभी मार्ग अवरुद्ध कर देती है। उच्च आयामों के लिए, अन्तर्यात्रा पथ पर अग्रगमन के लिए प्रवेश निषिद्ध हो जाता है।

साधना जीवन हो या सामान्य जीवन- हमारे दोष ही हमारे मार्ग को अवरुद्ध करते हैं। प्रगति, उन्नति, सम्पन्नता, समृद्धि, उत्कर्ष, प्रकर्ष के जितने भी पर्याय हैं, जितनी भी परिभाषाएँ हैं, सभी हमारे गुणों को ही अभिव्यक्त करते हैं। हमारे दोष इन सबको विलोमावतार में प्रस्तुत करने लगते हैं। प्रगति, अवगति में बदलती है, उन्नति-अवनति में। अपने दोष, सम्पन्नता को विपन्नता व समृद्धि को विपत्ति बना देते हैं। दोष होने पर उत्कर्ष, अपकर्ष का रूप ले लेता है। इसलिए दोषों का क्षीण होना अनिवार्य है।

जीवनयात्रा जितना स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होती है, दोष भी उसी के साथ स्थूल से सूक्ष्म होते जाते हैं। जिन दोषों का स्थूल जीवन में कोई महत्त्व नहीं होता, सूक्ष्म जीवन में वे अति महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। इसलिए दोषों को वृक्षों, पौधों व बेलों से ही नहीं इनके अजन्मे बीजों से ही दूर होना होता है। न कोई दोष और न कोई दोष का बीज, सम्पूर्ण निर्मल चित्त यही साधक का यथार्थ परिचय है। वैराग्य न केवल सुखों व सम्बन्धों से बल्कि वैराग्य अपने अहंकार से भी होना चाहिए। सुख व सम्बन्धों से वैराग्य तो वैराग्य की निम्न कक्षा है। वैराग्य की उच्च कक्षा या वैराग्य का शिखर तो अहंकार के विसर्जन से ही प्रकट होता है। इस वैराग्य की परीक्षा, प्रकृति की प्रत्येक कक्षा, प्रत्येक लोक में होती है।

इस सत्य को महर्षि अपने अगले सूत्र में प्रकट करते हैं-

स्थान्युपनिमंत्रणे सङ्गस्मयाकरणम् पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ३/५१॥

शब्दार्थ= स्थान्युपनिमन्त्रणे= लोकपाल देवताओं के बुलाने पर; सङ्गस्मयाकरणम्= न तो (उनके भोगों में) सङ्ग (राग) करना चाहिए और न ही अभिमान करना चाहिए; पुनरनिष्टप्रसङ्गात्= क्योंकि ऐसा करने पर पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

भावार्थ= साधना की उच्च अवस्था में विभूतिवान साधक को लोकपाल आदि देवशक्तियाँ आमंत्रित करती हैं। भोगों के इस आमंत्रण में न तो राग हो और न ही अभिमान क्योंकि ऐसा होने पर फिर से अनिष्ट की सम्भावना प्रबल हो जाती है।

योगऋषि पतंजलि का सूत्र, साधना का परम उपदेश है। इसी के साथ इसमें वैराग्य की परीक्षा का सन्देश भी है। योग साधक का परम लक्ष्य कैवल्य है, द्रष्टा का अपने स्वरूप में अवस्थित होना है। इसके लिए जो साधनाएँ सम्पन्न की जाती हैं, जिनका अनुष्ठान किया जाता है, उनका मार्ग सुदीर्घ है। साधना के निरन्तर अभ्यास से विभूतियों का मिलना, सिद्धियों का प्राप्त होना सुनिश्चित है। दृष्टिकोण स्वस्थ, स्वच्छ व सकारात्मक हो तो इनसे साधक को स्वयं की और साधना की सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है। उसे अनुभव हो जाता है कि हमारा पथ व हमारी गति सही है। इससे उसमें उत्साह का संचार होता है। वह समझ पाता है कि अभी श्रद्धापूर्वक अपने मार्ग पर निरन्तर चलते रहना चाहिए।

प्रकृति की प्रत्येक परत की, चेतना के हर तल की अपनी विभूतियाँ व सिद्धियाँ हैं। यही स्थानधारी देवशक्तियाँ हैं। पुराणकथाओं में इन्हीं को लोकपाल देवता कहा गया है। इनका सान्निध्य योग के किसी विशेष स्तर पर होता है। अनुकूल नहीं होने पर ये योग साधक को अपना लक्ष्य पाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। पर कभी-कभी इनसे भ्रम की स्थिति भी बनती है। यदि चित्त में सात्त्विकता सम्पूर्ण नहीं है, अभी भी कहीं रजस बचा रह गया है तो योग साधक इनकी ओर आकृष्ट होने लगता है। वह शक्तिसम्पन्न, विभूतिसम्पन्न होने की सोचने लगता है। इनके उपयोग व उपभोग की लालसा उसमें बढ़ती है। संसार के लोग भी ऐसे योग साधक को मान देते हैं। उसके चमत्कार की चर्चा होती है।

इस दिशा में आगे बढ़ने पर, इस दशा को प्राप्त करने पर वह पुनः विषयों से, भोगों से घिरने लगता है। तब उसमें रजोगुण बढ़ने लगता है और सात्त्विकता क्षीण होने लगती है। उसमें राग और अभिमान दोनो ही बढ़ने लगते हैं। यदि विवेक-वैराग्य का कवच उसमें कमजोर हुआ तो उसके पतन की सम्भावना प्रबल हो जाती है। योग पथ में यह स्थिति कब आती है, इस स्थिति को भाष्यकार आचार्यों ने भली प्रकार समझने की चेष्टा की है। उन्होंने योग साधक को चार वर्गों में विभाजित किया है। उनके वर्गीकरण के अनुसार ये हैं- १. प्राथमकाल्पिक, २.मधुभूमिक, ३. प्रज्ञा ज्योति एवं ४. अतिक्रान्तभावनीय।

इन चारों में से १.प्राथमकाल्पिक, वह योगी है, जिसने अभी योग साधना का आरम्भ किया है। अभी वह योग के प्राथमिक या आरम्भिक स्तर पर है। इसके बाद २. मधुभूमिक स्तर है। यह योग साधक के योग पथ का दूसरा वह स्तर है, जहाँ निर्वितर्क समाधि के द्वारा प्रज्ञा, ऋतम्भरा हो जाती है। योग में इसका नाम 'मधुमतीभूमि' है। इस स्थिति को पाने वाला योगी, भूतों व इन्द्रियों पर विजय पाना चाहता है।

इस वर्गीकरण का तीसरा स्तर ३. प्रज्ञाज्योति है। यह योग साधक का वह स्तर है, जहाँ भूतों और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली जाती है। इसके बाद योग साधक स्वार्थ संयम (जिसकी चर्चा महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र के तीसरे पाद के पैतीसवें सूत्र में की है) से विशोका (जिसका उल्लेख प्रथम पाद के छत्तीसवें सूत्र

में हुआ है) और संस्कारशेषा (जो पहले पाद के अठारहवें एवं तैंतालिसवें तथा तीसरे पाद के तीसरे सूत्र में वर्णित है) भूमियों पर आगे बढ़ता है।

इसके पश्चात् ४. अतिक्रान्तभावनीय नाम का चौथा स्तर है, जहाँ पहुँच कर योग साधक मधुमती, मधुप्रतीका एवं विशोका नाम की भूमियों की ओर से विरक्त हो जाता है। आत्मज्ञान के लिए अपेक्षित इन सभी भूमियों को पार करने के बाद उसके लिए अब केवल चित्त को लय करना शेष बचता है। यह चित्त उस समय सात प्रकार की प्रान्त भूमि, प्रज्ञा वाला होता है (जिसका उल्लेख महर्षि ने दूसरे पाद के सत्ताइसवें सूत्र में किया है)।

इनमें से प्रथम वर्ग के योग को कोई सिद्धियाँ विभूति प्राप्त नहीं होतीं। इसलिए उसके सामने इनके आकर्षण की कोई समस्या नहीं होती। तृतीय व चतुर्थ स्तर के योग साधक उस स्तर को पार कर चुकते हैं, जहाँ विषयों के आकर्षण की भावना सम्भव है। इन्होंने तो भूतों व इन्द्रियों पर विजय पा ली होती है। चतुर्थ स्तर का योग साधक तो असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर योगसिद्धि के विचार से सर्वोच्च भूमियों की ओर से भी विरक्त हो चुकता है।

ऐसी स्थिति में द्वितीय स्तर के योग साधक जो ऋतम्भरा प्रज्ञा तक पहुँच सके हैं, उनमें सिद्धि का लाभ पाने की चाहत जग सकती है। इस स्तर पर योग साधक को सावधान एवं अतिजागृत होना आवश्यक है। उन्हें इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि राग व अभिमान उन्हें योगभ्रष्ट न कर सके। यदि योग साधक का अन्त:करण अपने सद्गुरु की भक्ति एवं ईश्वर शरणागति से परिपूर्ण है तो वह अपने पथ की सभी बाधाओं को सरलता से पार कर लेता है। गुरुकृपा एवं ईश्वरकृपा उसे योग की सम्पूर्णता स्वरूप कैवल्य ज्ञान तक पहुँचा देती है।

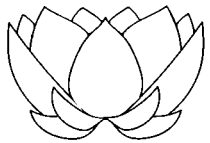

क्षण-क्रम सधे तो होता है विवेक ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान का यथार्थ या अन्य शब्दों में योग साधना का सत्य न तो सिद्धियाँ हैं और न ही विभूतियाँ। इनका वास्तविक परिणाम जीवन बोध है, जो बस विवेक ज्ञान के प्रकट होने से ही होता है। सम्यक् ज्ञान या विवेक का प्रकाश ही सम्पूर्ण योग साधना की वास्तविक विभूति है। यही सही अर्थों में साधना से प्राप्त होने वाली सम्पदा है। विवेक ज्ञान के होने पर जीवन की दिशा और दशा अपने आप ही सुधर जाती है, सँवर जाती है।

जब योग साधक अपनी साधना में आगे बढ़ता है, तो उसे कई विघ्नों का सामना करना पड़ता है। इन विघ्नों में से महत्त्वपूर्ण विघ्न है कि उसे लोकपाल देवता बुलाते हैं। इनके बुलाने पर न तो उनके भोगों का संग करना चाहिए और न ही इसका अभिमान करना चाहिए। भोगों की आसक्ति और इनके त्यागने का अहंकार- दोनों ही अनिष्टकारी हैं, अनर्थकारी हैं। आसक्ति हो अथवा अहंकार दोनों ही साधना का नाश करते हैं। इनके द्वारा ज्ञान का लोप हो जाता है और साधक अपने साधना सोपानों से पतित होता है। इनसे रक्षा तभी होती है, जब योग साधक में विनम्रता हो। साथ ही उसमें विवेक और वैराग्य हो। सही मायने में विवेक और वैराग्य ही योग साधना की वास्तविक सम्पत्ति हैं। इन्हीं के द्वारा साधना पथ प्रकाशित होता है, गतिशीलता बढ़ती है। विवेक के

माध्यम से साधना के बाधक तत्त्वों का, अवरोधों का ज्ञान होता है तथा वैराग्य के माध्यम से इनसे छुटकारा मिलता है।

इसके अगले क्रम में महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र को स्पष्ट करते हैं-

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ३/५२॥

शब्दार्थ= क्षणतत्क्रमयोः= क्षण और उसके क्रम में; संयमात्= संयम करने से; विवेकजम्= विवेकजनित; ज्ञानम्= ज्ञान उत्पन्न होता है।

भावार्थ= क्षण और उसके क्रम में संयम करने से योग साधक में विवेकजनित ज्ञान उत्पन्न होता है।

सूत्रकार महर्षि द्वारा रचित यह सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसको समझने से हम जीवन बोध की ओर बढ़ सकते हैं। क्षण, समय का सबसे छोटा अंश है। ठीक उसी तरह से जैसे कि पदार्थ का सबसे छोटा हिस्सा परमाणु है। आचार्यों का इस बारे में कहना है कि परमाणु जितने समय में अपने स्थल से चलकर अगले स्थान तक पहुँच जाता है, उतने समय को क्षण की संज्ञा दी गयी है। बात विचार करने की है कि अतिसूक्ष्म कण परमाणु को स्थानान्तरित होने में कितना समय लगता होगा। उसे तो बस उतने ही स्थान से हटना है, जितना कि परमाणु ने घेरा हुआ है। उस क्षण का अगले क्षण में पहुँचना ही क्रम है। यानि कि एक क्षण से दूसरे क्षण में पहुँचना-प्रवाहित होना क्षण का क्रम है। क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान हो जाता है। योगी को इस ज्ञान के द्वारा सब विषयों का, सब प्रकार का ज्ञान हो जाता है।

सामान्य जीवन में हमें न तो क्षण की अनुभूति होती है और न ही परमाणु की। यदि परमाणु को देखना है तो हमारी आँखों की दृष्टि पर्याप्त नहीं है, इसके लिए इलेक्ट्रॉन-माइक्रोस्कोप चाहिए, तभी हम पदार्थ की सूक्ष्मता को देख सकते हैं। हमारी आँखें जिस जल को पूर्णतया स्वच्छ देखती हैं, उसी को यदि सूक्ष्मदर्शी से देखा जाय तो जीवाणुओं की एक भरी-पूरी दुनिया दिखाई देने की सम्भावना है। इसी तरह क्षण, जिसको कि हम यूँ व्यर्थ जाने देते हैं, जिसके आने और जाने को अनुभव नहीं कर पाते हैं, उसके क्रम के साथ परिवर्तन का क्रम भी जुड़ा हुआ है। काल का प्रवाह यथार्थ में परिवर्तन का प्रवाह है। यदि बड़े कालखण्ड में बड़े परिवर्तन होते हैं, तो निश्चित ही छोटे कालखण्ड में छोटे या सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं। भले ही हम इन्हें देख पाएँ अथवा नहीं।

इस बात को और अधिक साफ तौर से समझें तो यदि एक वर्ष के समय और उसमें होने वाले घटनाक्रमों का मिलान करें तो बात साफ हो जाएगी। इस एक साल में बहुत कुछ बदल जाता है। शरीर, मन, सम्बन्ध, जीवन के घटनाक्रम- सब जगह हमें परिवर्तन साफ-साफ दिखता है। यह इतना साफ होता है कि इसे हम देख पाते हैं। लेकिन यदि हम समय की सीमा को घटाते चले जाएँ तो उसमें होने वाले परिवर्तन की अनुभूति नहीं कर पाते हैं, हालांकि इन परिवर्तनों का क्रम सतत चलता रहता है। एक क्षण से दूसरे क्षण तक भी परिवर्तन होते हैं और यदि हम अपनी मानसिक सूक्ष्मता एवं एकाग्रता के शिखर पर पहुँचें तो इसकी अनुभूति कर सकते हैं।

भगवान बुद्ध ने अपनी साधना में, अपनी समाधि में क्षण-क्षण के साथ होने वाले परिवर्तन क्रम को स्पष्ट अनुभव किया था। अपनी समाधि के इस निष्कर्ष को उन्होंने नाम दिया- क्षणिकवाद। क्षणिकवाद दरअसल क्षण के क्रम में होने वाले परितर्वन का नाम ही है। यह परिवर्तन कभी रूकता नहीं, कभी थमता नहीं है। जिस तरह क्षण प्रवाहवान है, ठीक उसी तरह इस प्रवाह के साथ परिवर्तन भी प्रवाहमान है। सब कुछ निरन्तर बदल रहा है। जो एक क्षण में है, ठीक वैसा दूसरे क्षण में नहीं रहता। हम जिसे पकड़ने का भ्रम पाले हैं, वह हर क्षण हमसे छूट रहा है। हर क्षण मृत्यु हो रही है, हर क्षण वह टूट रहा है। तभी तो उन्होंने कहा- यह संसार अनित्य है, हर क्षण के साथ यह नष्ट हो रहा है।

संयुक्त निकाय में भगवान ने कहा है- महाभूतों की यह काया एक, दो, तीन, चार, पाँच या छः वर्षों तक मौजूद देखी जाती है किन्तु जिसे चित्त, मन या विज्ञान कहते हैं, वह अहर्निश उत्पन्न होता है और नष्ट होता रहता है। इस तरह एक का विनाश या दूसरे का उत्पादन लगातार चलता रहता है। यही तो क्षणिकवाद है। इसकी अनुभूति यदि हो जाए तो जीवन के प्रति दृष्टि बदल जाती है। तब न आसक्ति बची रह जाती है और न ही अहंकार। हर क्षण विवेक बना रहता है। विवेकजनित ज्ञान हर क्षण सृष्टि के जीवन के सत्य की अनुभूति कराता रहता है। यह केवल किसी एक स्थान का अथवा किसी एक समय का सत्य नहीं है बल्कि सर्वकालिक और सार्वभौमिक सत्य है।

सूत्रकार ऋषि कहते हैं कि क्षण के क्रम में संयम करने से यह अनुभूति हो जाती है। अतिसूक्ष्मता और अतिएकाग्रता में ही यह अनुभूति सम्भव है। सतह

पर नहीं, अतल गहराई में इस सत्य का साक्षात्कार हो पाता है। द्रष्टा भाव में, साक्षी भाव में सम्भव होता है यह ज्ञान। ठीक उसी प्रकार जब हम नदी के तट पर बैठकर जल के प्रवाह को देखते हैं, तो आसानी से यह समझ पाते हैं कि हर क्षण के साथ जल परिवर्तित हो रहा है। जल का प्रवाह भले ही यथावत है, लेकिन उसमें प्रवाहित होने वाले सभी जलकण, क्षण के क्रम से साथ बदल रहे हैं।

बस ठीक इसी तरह जब हम मन के साक्षी होते हैं, मन के तट पर बैठकर मन के प्रवाह की अनुभूति करते हैं, तो कुछ ऐसा ही अनुभव होता है। साधना के शिखर पर एक क्षण वह भी आता है, जब हम नदी के प्रवाह की भांति सम्पूर्ण प्रकृति के प्रवाह के साक्षी बनते हैं। क्षण के क्रम में संयम, हमें ऐसे विवेकजनित ज्ञान की विभूति प्रदान करता है। इसके द्वारा हम जीवन को, सृष्टि को, प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से, समग्रता में जान सकते हैं, अनुभव करते हैं, करने योग्य होते हैं। क्षण के क्रम में संयम हमें भी भगवान् बुद्ध की तरह जीवन का बोध देता है। फिर हमारे लिए न कुछ अनदेखा रहता है और न अनजाना रह जाता है। विवेकजनित ज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है।

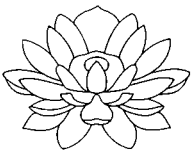

भेदों की सूक्ष्मताओं का बोध कराता है विवेक

शुद्ध चित्त में ज्ञान स्वभावत: अंकुरित, प्रस्फुटित व विकसित होता है। जिसे अज्ञान कहते हैं, वह बस चित्त की अशुद्ध दशा ही है। भय, भ्रम, भ्रान्ति, सन्देह, संशय, भटकन, विचलन ये सभी कुछ और नहीं- चित्त की अशुद्धियों के ही पर्याय हैं। जितना चित्त अशुद्ध रहता है, उतना ही अज्ञान का अंधियारा उसे आच्छादित किए रहता है। इन अशुद्धियों के हटने के क्रम में यह अंधेरा भी छंटता, हटता और मिटता है और तब उत्तरोत्तर स्थिरता व एकाग्रता प्रगाढ़ होती है। इसके साथ ही प्रकट होता है- विवेक ज्ञान, जो अपने साथ बोध लेकर आता है। इसके प्रकाश में सत्य, सुस्पष्ट और प्रकट होता है। फिर आन्तरिक जीवन हो या बाह्य जीवन, मन:स्थिति हो या परिस्थिति, सबकी सारी सच्चाई अपने आप समझ में आने लगती है। वस्तु, व्यक्ति एवं घटनाक्रम इन सभी के हर आयाम अपनी सूक्ष्मता व समग्रता में सुस्पष्ट हुए बिना नहीं रहते।

जीवन के सामान्य क्रम में होने वाली अनुभूतियों और विवेकज्ञान की अवस्था में होने वाली अनुभूतियाँ सर्वथा भिन्न होती हैं। सामान्य अवस्था में व्यक्ति हो अथवा वस्तु या फिर घटनाक्रम- सभी सत्य लगते हैं। इनमें हमें यथार्थता और वास्तविकता का अनुभव होता है। लेकिन जब क्षण और उनके क्रम में संयम सधता है तो ज्ञान का नवोन्मेष होता है और एक सर्वथा नयी दृष्टि प्राप्त होती है। तब पता चलता है कि क्षण-क्षण में, कण-कण में परिवर्तन हो रहा

है। प्रतिक्षण में विनाश और उत्पत्ति का प्रवाह है। कुछ भी स्थिर नहीं है। सभी कुछ अस्थिर व नश्वर है। विवेक ज्ञान से प्रकृति की परिवर्तनशीलता के दर्शन होने लगते हैं।

सूत्रकार महर्षि अपने अगले सूत्र में इस विवेक ज्ञान की उपलब्धि के बारे में कहते हैं-

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ३/५३ ॥

शब्दार्थ= जातिलक्षणदेशैः= (जिन वस्तुओं का) जाति, लक्षण और देश भेद से; अन्यतानवच्छेदात्= भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; तुल्ययोः= जो दो वस्तुएँ, तुल्य (एक के सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेद की; प्रतिपत्तिः= उपलब्धि; ततः= उस (विवेक ज्ञान) से होती है।

भावार्थ= विवेक ज्ञान होने से समान दिखने वाली वस्तुओं के जातिभेद, लक्षण और देशभेद की सूक्ष्मताओं को सहजता से जाना जा सकता है। प्रकट समानता में भी अप्रकट असमानताओं को साफ तौर पर समझा जा सकता है।

इस सूत्र में जाति भेद, लक्षण भेद एवं देश भेद की चर्चा की गयी है। इन भेदों को पहले क्रम से समझ लेना आवश्यक है। इनमें से पहला है १. जाति भेद- जैसे एक स्थान पर समान रंग, रूप की गाय और घोड़ी बंधी हैं, तो इनमें जो परस्पर भेद है वह जाति भेद है। दूसरा है २. लक्षण भेद- यदि दो गाय एक स्थान पर बंधी हैं; उनमें एक काली है, दूसरी सफेद तो इनमें रंगों के भेद को लक्षण भेद कहेंगे। इसके पश्चात तीसरा भेद है ३. देश भेद- देश से तात्पर्य है दिशा और स्थान का भेद। कहीं बैठे हुए एक व्यक्ति के पूरब की ओर एक आँवला रखा हुआ है और वैसा ही दूसरा आँवला उसके उत्तर की ओर रखा हुआ है तो इन आँवलों में परस्पर भेद न तो जाति के कारण है और न ही लक्षण के कारण। बल्कि यहाँ तो भेद स्थान व दिशा का है, इसलिए इसको देश भेद कहा जाएगा।

इस सूत्र का भाष्य करने वाले प्रायः सभी भाष्यकारों ने इन्हीं उदाहरणों से इस सूत्र को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। पर यदि इस पर तनिक सूक्ष्मता से विचार करें तो इन उदाहरणों से जाति, लक्षण एवं देश का अर्थ तो स्पष्ट हो जाता है पर इसके बावजूद इनमें से किसी भी उदाहरण से विवेक ज्ञान की महत्ता नहीं

प्रकट होती। उल्टे कहीं यह सवाल उठ जाता है कि परम महिमामय विवेकज्ञान का इतना ही और इसी कार्य के लिए महत्त्व है ?

इस प्रश्न पर विचार करने के साथ इस सत्य को समझना भी जरूरी है कि पतंजलि योगसूत्र महर्षि के दीर्घकालीन वैज्ञानिक प्रयोगों के गम्भीर निष्कर्ष हैं। इनमें बीज रूप में परिकल्पना, प्रयोग विधि, परिणाम, सिद्धान्त निरूपण सभी कुछ है। इनको उसी ढंग से समझना पड़ेगा। यह कथा-कहानी नहीं है। यह गम्भीर शोध प्रबन्ध है- केवल विशेषज्ञों के लिए। इसे उसी ढंग से समझने की कोशिश करनी पड़ेगी। समझने की कोशिश में थोड़ी कमी, थोड़ी खामी रही तो बात नहीं बनेगी। जिस ढंग से इसे लिखा गया है, वह ऐसा है कि जो इसके लिए तैयार नहीं हैं तो महर्षि के द्वारा कहे गए ये सूत्र बड़े स्वचालित ढंग से उसकी ओर से अपनी पीठ फेर लेंगे। तो सूत्रों में छिपे हुए और महर्षि के द्वारा छिपाए गए मर्म को समझने के लिए जाति भेद, लक्षण भेद एवं देश भेद के सत्य पर, इसके अर्थ पर नए ढंग से विचार करना होगा।

सबसे पहले विचारक्रम में जाति भेद। जाति का सम्बन्ध जन्म से है। ज्योतिषशास्त्र में प्रयुक्त होने वाला शब्द जातक अर्थात् जिसका जन्म हुआ अथवा जिसने जन्म लिया, इसी से बना है। जीव के जन्म का कारण बनते हैं- उसके चित्त की संस्कार शृंखला। इन संस्कारों से ही जन्म का स्वरूप निश्चित व निर्धारित होता है। तो इस तरह जाति भेद का अर्थ संस्कार भेद से है। अब लक्षण भेद को समझना होगा। जीवन के लक्षणों का निर्धारण मनुष्य के अथवा जीवात्मा के कर्मों के आधार पर होता है। जीवन के सभी घटनाक्रम इन कर्मों के आधार पर ही घटित होते हैं। इन कर्मों को समझना वास्तव में लक्षण भेद को समझना है। चित्त के विभिन्न स्तरों पर कर्मराशि विद्यमान होती है। इन सभी में परिपाक हुए कर्म ही जीवन के लक्षण बनकर प्रकट होते हैं।

तीसरे क्रम में देश भेद है। देश भेद में स्थान व दिशा की सूचना है। अपने जीवन का अथवा किसी अन्य के जीवन का देश क्या है और क्या होगा ? इसका निर्धारण संस्कार व कर्म ही करते हैं। इस सच के साथ सच यह भी है कि देश भेद को जानकर जीवात्मा और उसके जीवन की सभी वास्तविकताएँ जानी जा

सकती हैं। यूँ तो समस्त सृष्टि अथवा दूसरे शब्दों में प्रकृति का सम्पूर्ण परिदृश्य या परिक्षेत्र देश ही है। इसमें भेद जीवात्मा के अपने कर्मों व संस्कारों के अनुसार होता है।

जाति भेद, लक्षण भेद एवं देश भेद के तीनों रूपों में अनेको सुयोग, संयोग घटित होते हैं। जैसे कि एक ही देश में, भिन्न जाति वाली व भिन्न लक्षण वाली जीवात्माएँ हो सकती हैं। इसी तरह जाति की समानता में लक्षण व देश की भिन्नताएँ हो सकती हैं। लक्षण की समानता में जाति व देश की भिन्नताएँ हो सकती है। तो इस तरह एक की समानता में दो की भिन्नताएँ अथवा दो की समानता में एक की भिन्नता, ऐसे अनेको क्रम-अनुक्रम इनमें सम्भव हैं। इन्हें समझ पाना सामान्य ज्ञान व सामान्य दृष्टि से सम्भव नहीं है।

इसे वही समझ सकता है, जो सम्पूर्ण प्रकृति को सम्पूर्ण रूप से जानता हो अर्थात् जिसे प्रकृति के प्रत्येक क्षण का, प्रत्येक कण का और इन दोनों के परिवर्तन के प्रत्येक क्रम का ज्ञान हो। तभी वह स्वयं के बारे में, साथ ही औरों के बारे में यह जान सकता है कि किस जीवात्मा ने इस क्षण में किस स्थान पर अथवा किस लोक में जन्म लिया है और उसके जीवन में किस तरह के घटनाक्रम, किन कर्मों के परिणामस्वरूप, जीवन के किन क्षणों में घटित हो रहे हैं। विवेक ज्ञान के द्वारा जीवन की इन सभी सूक्ष्मताओं व इनके प्रत्येक सूक्ष्म अन्तर-प्रत्यन्तर का ज्ञान सम्भव है। जीवन के आरोह-अवरोह कितने भी सूक्ष्म क्यों न हो, ये कहीं पर भी क्यों न घटित हो रहे हों, विवेकज्ञान के प्रकाश में इन्हें पहचानना सम्पूर्ण रूप से सम्भव है।

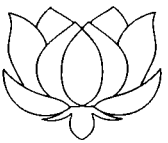

सबका, सब प्रकार से सम्यक् ज्ञान है-विवेकजनित ज्ञान

अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोगों का निष्कर्ष ज्ञान के रूप में प्रकट होता है। यह ज्ञान, जानकारियों, विचारों व कल्पनाओं से सर्वथा भिन्न है। जानकारियाँ कैसी भी हों, कहीं से मिलें, विचारों का स्रोत कोई भी क्यों न हो, कल्पनाओं का रूप कैसा भी हो, इन सभी की सत्यता संशय से परे नहीं होती। इन सबको अपने-अपने ढंग से संशय, सन्देह घेरे रहते हैं। ज्ञान चेतना में प्रकाश का स्रोत बनकर प्रकट होता है। इस प्रकाश में अनुभूतियाँ घटित होती हैं। हालाँकि बदलते क्रम में इन अनुभूतियों के तल भिन्न-भिन्न होते हैं। फिर प्रत्येक तल पर होने वाली अनुभूतियों में उस तल के सत्य का बोध होता है। क्रमिक रूप में चेतना के उच्चस्तरीय तलों में प्रकाश सघन होता जाता है, साथ ही अनुभूतियाँ भी पारदर्शी और संशयरहित होती जाती हैं।

योगसाधना में परिष्कार ही विकास है। चित्त के परिष्कार के अनुरूप ही विकास की अवस्थाएँ आती हैं। इस विकास का प्रतिमान व प्रमाण होता है-ज्ञान। योग साधना की कसौटी न तो सिद्धियाँ हैं, न शक्तियाँ और न ही विभूतियाँ। इसकी एकमात्र कसौटी ज्ञान है। सिद्धियाँ, शक्तियाँ अथवा विभूतियाँ- अपरिष्कृत अवस्था में भी प्रकट हो सकती हैं। इनका स्रोत योग साधना के अतिरिक्त तप व तन्त्र की प्रक्रियाएँ भी हो सकती हैं। तप व तन्त्र के माध्यम से भी अनेको सिद्धियों, शक्तियों व विभूतियों का अर्जन किया जाता है

लेकिन इनसे ज्ञान की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। अनेको तपस्वी एवं तंत्रसिद्ध व्यक्ति अपने पास अनगिनत सिद्धियों, शक्तियों व विभूतियों के होते हुए भी ज्ञानविहीन होते हैं। अहंकार उन्हें घेरे रहता है। अपने कार्यों एवं जीवनशैली से वे उत्तरोत्तर अपने चित्त को मलिन करते रहते हैं जबकि चित्त का परिष्कार करने वाली योग साधना में तत्पर व्यक्ति ज्ञानपूर्ण, बोधपूर्ण, संवेदनशील व शुद्ध जीवन जीता है।

विवेक ज्ञान में ज्ञान का सम्यक् और सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट होता है। इस ज्ञान के प्रकट होने पर संशय, सन्देह व भ्रम मिट जाते हैं। साथ ही मिट जाती हैं- देश व काल की दूरियाँ। कोई भी, कहीं भी क्यों न हो, उसके सभी दृश्य व अदृश्य भेदों को, प्रकट व अप्रकट रहस्यों को- सहजता से, स्पष्टता से जाना जा सकता है।

सूत्रकार ऋषि पतंजलि अपने अगले सूत्र में इस विवेकज्ञान की महिमा बताते हैं-

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ३/५४॥

शब्दार्थ= **तारकम्**= जो संसार समुद्र से तारने वाला है; **सर्वविषयम्**= सबको जानने वाला है; **सर्वथाविषयम्**= सब प्रकार से जानने वाला है; **च**= और; **अक्रमम्**= बिना क्रम के (पूर्वापर के) जानने वाला है; **इति**= इस प्रकार यह; **विवेकजं**= विवेकजनित; **ज्ञानम्**= ज्ञान है।

भावार्थ= विवेकजनित ज्ञान से मनुष्य संसार समुद्र को पार कर लेता है। इस ज्ञान से सबको, सब प्रकार से जाना जाता है। इसके द्वारा किसी को किसी भी क्रम में सम्पूर्ण रूप से जान लिया जाता है। विवेकजनित ज्ञान की ऐसी महिमा है।

महर्षि अपने इस महत्त्वपूर्ण सूत्र में ज्ञान के सर्वोच्च स्वरूप को प्रकट करते हैं। सामान्य जीवन में हम जिसकी चर्चा करते हैं, जिसकी अनुभूति पाते हैं, यह उससे सर्वथा भिन्न है। सामान्य क्रम में कल्पनाएँ, ज्ञान की कोपलों के रूप में फूटतीं एवं विचारों के रूप में विकसित होती हैं। जानकारियों के रूप में इसका आदान-प्रदान होता है। पर यहाँ जिस ज्ञान की चर्चा सूत्रकार महर्षि कर रहे हैं, वह भिन्न है। इसका अंकुरण, प्रस्फुटन उद्भव केवल परिष्कृत चित्त में होता है।

इसमें किसी बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती। इस सूत्र में महर्षि ने इस ज्ञान की विशिष्टताओं की चर्चा की है जिनका क्रमिक विवेचन किया जाना है। महर्षि के इस विवेकजनित ज्ञान की विशेषताएँ हैं- १. तारकं, २. सर्वविषयं, ३. सर्वथा विषयं एवं ४. अक्रमम्।

अब क्रमानुसार इस विवेकजनित ज्ञान की पहली विशेषता है- १. तारकं- तारने वाला है। इस ज्ञान से जीवन का संसार समुद्र से उद्धार होता है। इस ज्ञान की प्राप्ति न तो पुस्तक पढ़ने से होती है और न ही प्रवचन सुनने से। चित्त जब परिष्कार की सर्वोच्च अवस्था में पहुँच जाता है तो उस शुद्ध चित्त में स्वाभाविक ही इस विवेकजनित तारक ज्ञान का उदय होता है। इस ज्ञान से परवैराग्य का उदय होने से आसक्ति एवं अहंकार के दोष स्वत: नष्ट हो जाते हैं। जीवन की चेतना, सुखों से व सिद्धियों से स्वत: ऊपर उठ जाती है। योगी इस ज्ञान के द्वारा कैवल्य अवस्था को पा लेता है। इससे योग साधक की अपने स्वरूप में अवस्थिति हो जाती है। इसीलिए इस ज्ञान को तारक ज्ञान कहा गया है क्योंकि इसके स्वभाव एवं प्रभाव से व्यक्ति संसारसमुद्र को पार कर जाता है।

इस ज्ञान की दूसरी विशेषता है-२. सर्वविषयं अर्थात् सभी विषयों का ज्ञान देने वाला है। उपनिषद् इसी ज्ञान के लिए कहते हैं, जिसके होने से सब कुछ जान लिया जाता है। इसके होने पर न तो कुछ अदृश्य रहता है और न अस्पष्ट। जो कुछ जहाँ पर भी हो, उसे सम्पूर्णतया देखा, जाना और अनुभव किया जा सकता है। स्वयं का स्वरूप एवं सम्पूर्ण प्रकृति इस ज्ञान से प्रकट और स्पष्ट समझ में आने लगती है। सभी विषय इस ज्ञान से बोधगम्य हो जाते हैं।

इस ज्ञान की तीसरी विशेषता है ३. सर्वथा विषयम्- इस ज्ञान से प्रत्येक विषय का हर आयाम स्पष्ट हो जाता है। इस ज्ञान के होने पर किसी विषय के दूर होने व पास होने का सारा भेद समाप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, उसके दृश्य व अदृश्य, प्रकट व अप्रकट सभी पहलू जाने जा सकते हैं। इस ज्ञान से किसी भी विषय के सूक्ष्म तथा अतिसूक्ष्म रहस्य सरलता से व सहजता से स्पष्ट होते हैं। सभी विषयों के सभी आयामों को एक साथ प्रकट कर देना, इनका बोध करा देना- इस ज्ञान की विशेषता है।

इस ज्ञान की चौथी विशेषता है- ४. अक्रमम्- अर्थात् इसके द्वारा, बिना किसी क्रम के सभी क्रमों का ज्ञान होता है। विवेकजनित ज्ञान होने से क्रम

शृंखला का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। सामान्य क्रम में हम यही देखते हैं कि प्रत्येक ज्ञानप्राप्ति में क्रम का महत्त्व है। अध्ययन हेतु पहले हम वर्णमाला का ज्ञान पाते हैं, अक्षरों की पहचान एवं इनके उच्चारण को सीखते हैं। तत्पश्चात् इनके सम्मिलित स्वरूप का क्रम आता है। बाद में इनके व्याकरण की जटिलताएँ सीखते हैं।

ज्ञान का यही क्रम अन्य विषयों व उपलब्धियों के साथ जुड़ा हुआ है परन्तु विवेकजनित ज्ञान होने से इस क्रम के सिलसिले का महत्त्व समाप्त हो जाता है। विवेकजनित ज्ञान होने से योगी किसी भी विषय को किसी भी क्रम से जान सकता है, इसका अनुभव पा सकता है। फिर भले ही वह इसका आरम्भ अन्त से करे अथवा मध्य से अथवा प्रारंभ से। इन विशेषताओं से सम्पन्न होता है- विवेकज्ञान। इस ज्ञान से न केवल जीवन की सभी समस्याओं का समाधान होता है, बल्कि जीवन, संसारसागर से भी पार हो जाता है।

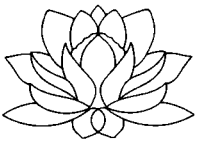

चित्त व पुरुष की सम्यक् शुद्धि का परिणाम है कैवल्य

परिष्कार प्रतिमान है, प्रमाण है इस सत्य का- कि योग साधना की गति और दिशा दोनों सही हैं। यह इस सत्य की सूचना है कि अन्तर्यात्रा विज्ञान के प्रयोग सम्यक् विधि से समुचित ढंग से सम्पन्न किए जा रहे हैं। प्राय: लोग योग को, योगी को- चमत्कार से परखते हैं। जब किसी साधु की, साधक की, सिद्ध की चर्चा होती है तो साथ में किसी न किसी चमत्कार की चर्चा भी होती है। इस आधार पर साधु की साधुता, साधक की साधना और सिद्ध की सिद्धि पहचानी परखी जाती है लेकिन सूत्रकार ऋषि इस पहचान को, परख को गलत बताते हैं, इसे असत्य कहते हैं। वे कहते हैं कि पहचान व परख का सही मापन- परिष्कार है। चित्त की शुद्धि, जीवन का सम्यक् बोध है।

चित्त की शुद्धि से परिष्कृत चित्त में अंकुरित होने वाला विवेकजनित ज्ञान- योग साधना का सुफल है, उसका सत्परिणाम है। यह ज्ञान संसारसागर से तारने वाला है। इस ज्ञान से सभी विषयों का बोध होता है। इस ज्ञान के द्वारा सभी विषयों को सभी आयामों में जाना जाता है। विवेकज्ञान में न तो कोई संशय शेष रह जाता है और न इसमें होता है किसी भी सीमा का बन्धन। विवेकज्ञान अनवरुद्ध, अप्रतिहत और सर्वव्यापी होता है। इसके होने पर सब कुछ, सब तरह जानना सम्भव हो पाता है। यह विवेकज्ञान ही प्रमाण और प्रतिमान है- योग साधना की सफलता का। इसके बिना योग साधना की सार्थकता सिद्ध नहीं हो पाती।

यह कहने के बाद सूत्रकार महर्षि पतंजलि अपने अगले सूत्र को बताते हैं-

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥ ३/५५॥

शब्दार्थ= **सत्त्वपुरुषयोः**= बुद्धि और पुरुष- इन दोनों की; **शुद्धिसाम्ये**= जब समान भाव से शुद्धि हो जाती है तब; **कैवल्यम्**= कैवल्य होता है।

भावार्थ= बुद्धि एवं पुरुष की अथवा चित्त एवं पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।

यह विभूतिपाद का अन्तिम सूत्र है। इस सूत्र में समूचे तृतीय पाद का, ऋषि पतंजलि के योगसूत्र के तीसरे अध्याय का निष्कर्ष है। उनके द्वारा कहे गए इस निष्कर्ष सूत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण, रहस्यमय एवं प्रेरक सत्य यह है कि उन्होंने किसी भी विभूति का कोई उल्लेख नहीं किया। उन्होंने यदि किन्हीं तत्त्वों की चर्चा की है तो बस- १. चित्त की, २. पुरुष की, ३. शुद्धि की समानता की एवं ४. कैवल्य की। इस सूत्र में इन चारों की चर्चा, चिन्तन कुछ इस तरह है, जैसे कि इन चारों तत्त्वों में उन्होंने समूचा योगदर्शन कहने का प्रयास किया हो।

योगदर्शन की गहनता में, इसकी सार्थकता में प्रवेश के लिए प्रयत्न किए जाएँ तो वास्तविकता भी यही है। चलिए इसके लिए प्रयास प्रारम्भ करते हैं। पतंजलि प्रणीत योगदर्शन अथवा योगसूत्र में चार पाद अथवा चार अध्याय हैं। इनमें से पहला है- १. समाधिपाद। समाधि का सत्य अथवा समाधि का निष्कर्ष- पुरुष का स्वयं के द्वारा स्वयं का अनुभव है। इस तरह समाधि पाद का केन्द्रीय तत्त्व केवल पुरुष है। इसके पश्चात् दूसरा अध्याय है- २. साधन पाद। साधन पाद में साधना की प्रक्रियाएँ हैं। साधन कुछ भी हो, साधनाएं कितनी भी क्यों न हों लेकिन इन सभी का सार बस इतना ही है कि इनमें शुद्धि की समानता है। शुद्धि की प्रक्रिया में सभी साधन व साधनाएँ स्वतः ही समाविष्ट हो जाती हैं। इसके बाद तीसरा अध्याय- ३. विभूतिपाद है, जो योगसाधनाओं के परिणाम को दर्शाता है। इसके बाद चौथा अध्याय है- ४. कैवल्यपाद, जिसमें चर्चा कैवल्य की है। यही इसका वह केन्द्रीय तत्त्व है, जिसे महर्षि ने इस सूत्र में कहा है।

इस सूत्र की जितनी गहनता में प्रवेश करेंगे, परिणाम उतने गहरे होंगे। सत्त्व का, चित्त का- पुरुष के समान शुद्ध होने का अर्थ यह है कि उसमें रजस- तमस का मैल पूरी तरह से धुल जाए। चित्त इतना अधिक परिष्कृत हो कि पुरुष और

चित्त का भेद स्पष्ट हो सके। गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान हो और पुरुष अपने स्वरूप को साक्षात् अनुभव कर सके। पुरुष यूँ तो स्वभाव से शुद्ध है, बस जो उसने भ्रमवश चित्त के भोग को अपना मान रखा है, उसका यह भ्रम दूर हो जाए। पुरुष का मोह-भ्रम से मुक्त होना ही कैवल्य है। पुरुष की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा को ही कैवल्य कह सकते हैं।

इस विभूतिपाद में कही गयी कुछ विभूतियाँ कैवल्य-प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं। पर यह जरूरी नहीं है कि विविध प्रकार की संयम साधना द्वारा मिलने वाली विभूतियों एवं भूमियों को पाने के पश्चात् ही कैवल्य हो। ये विभूतियाँ एवं विभूमियाँ मिलें या न मिलें, पुरुष और चित्त में भेद का अनुभव कराने वाला विवेकज्ञान आवश्यक है। विवेकज्ञान से अविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नाम के क्लेश, भुने हुए बीजों की तरह अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहने पर कर्मों में स्वत: ही निष्कामता आ जाती है। निष्काम कर्मों के कारण और कामना के अभाव में कर्मफल का वृक्ष भी नहीं जन्म लेता और कर्मफल के अभाव में उसके परिणामस्वरूप होने वाले जन्म, आयु और भोग भी नहीं पनपते और न ही किसी तरह सुख-दु:ख की अनुभूति सामने आती है।

इस प्रकार सत, रज, तम इन गुणों का जो प्रयोजन पुरुष को भोग व अपवर्ग दिलाना है, स्वत: समाप्त हो जाता है और वे अपने कारण में विलीन हो जाते हैं। यही कैवल्य है। इसी को विभिन्न स्थलों पर केवल ज्ञान, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, गुणाधिकार की समाप्ति, परमधाम एवं परमपद जैसे नाम दिए गए हैं।

॥ उपसंहार ॥

ऋषि पतंजलि ने इस तृतीय पाद में समाधि के अतरंग तीनों अंग (धारणा, ध्यान और समाधि) को बताकर उनके सम्मिलन को संयम नाम दिया। संयम के विषय को दिखलाने के लिए तीन प्रकार के परिणाम बताए। संयम के बल से उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्य की सिद्धियों की विवेचना की। समाधि में अभ्यास करने के लिए भुवनज्ञान आदि बाहर की और कायव्यूह आदि भीतर की सिद्धियों को बताया। समाधि के लिए इन्द्रियजय, प्राणजय आदि सिद्धियों का उल्लेख किया। मुक्ति के लिए क्रम से अवस्था रहित भूतों के जय और इन्द्रियों के जय से उत्पन्न होने वाली सिद्धियों की व्याख्या सम्पन्न की।

इसके पश्चात् विवेकजनित ज्ञान के लिए उपायों को बताया गया। बाद में सब समाधियों के अन्त में होने वाले तारक ज्ञान को कहा गया और बताया गया कि उसमें समाधि के कर्त्तव्य को समाप्त करके चित्त के अपने कारण में लीन हो जाने से मुक्ति उत्पन्न होती है- यह कहा गया। इतना सब कहकर इस अध्याय के अन्तिम निष्कर्ष सूत्र में कहा गया है कैवल्य ज्ञान के लिए आवश्यकता विभूतियों की नहीं अपितु चित्त और पुरुष, दोनों की समान शुद्धि की है।

इस अध्याय में वर्णित विषयों को वाचस्पति मिश्र ने एक श्लोक में इस तरह संकलित किया है-

अभ्यान्तरङ्गान्यङ्गानि परिणामाः प्रपञ्चिताः।
संयमाद्भूति संयोगास्तासु ज्ञानं विवेकजम्॥

अर्थात् इस पाद में योग के तीन अन्तरंग अंग और परिणामों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। विविध प्रकार के संयमों के फलस्वरूप विभूतियों का वर्णन तथा उसमें विवेकज्ञान को स्पष्ट किया है।

हमारे विचारों को आप पढ़िये और हमारी आग की चिनगारी को, जो प्रज्ञा-अभियान के अन्तर्गत **युग-साहित्य** के रूप में लिखना शुरू किया है, उसे लोगों में फैला दीजिए। जीवन की वास्तविकता के सिद्धान्त को समझिए, ख्वाबी दुनिया में से निकलिए और आदान-प्रदान की दुनिया में आइये।

आपके नजदीक जितने आदमी हैं, उनमें आप हमारे विचार फैला दीजिए। हमको आगे बढ़ने दीजिए, सम्पर्क बनाने दीजिए और आप हमारी सहायता कर दीजिए; ताकि हम उन विचारशीलों के पास, शिक्षितों के पास जाने में समर्थ हो सकें। इससे कम में हमारा काम चलने वाला नहीं है और न ही हमें संतोष होगा।

मित्रो! हमारे विचारों को लोगों को पढ़ने दीजिए। जो हमारे विचार पढ़ लेगा, वही हमारा शिष्य है। हमारे विचार बड़े पैने हैं, तीखे हैं। **हमारी सारी शक्ति हमारे विचारों में समाहित है।** दुनिया को हम पलट देने का जो दावा करते हैं, वह सिद्धियों से नहीं, अपने सशक्त विचारों से करते हैं। आप इन विचारों को फैलाने में हमारी सहायता कीजिए।

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य